प्रभाकर-निबन्धावली

लेखक तथा सम्पादक

श्रीयुत गोपालचन्द्र देव

प्रकाशक

विद्या भवन

हस्पताल रोड, लाहौर

प्रथमवार] १९३६ [मूल्य १।।।)

प्रकाशक
श्यामचन्द्र विशारद
विद्या भवन, हस्पताल रोड, लाहौर

"विद्याऽमृतमश्नुते"

मुद्रक
श्रीमती सुशीलादेवी
विद्या प्रकाश प्रेस अनारकली, लाहौर

लेख-सूची

निवेदन

हिन्दी अब उन्नत भाषाओं के समकक्ष आ पहुँची है। साहित्य के अन्य अङ्गों के साथ साथ निबन्ध-रचना का प्रवाह भी अबाध है। सुपठित और अल्पपठित दोनों प्रकार के समाज में निबन्धों की माँग दिनोंदिन अधिक ही अधिक हो रही है। परीक्षाओं में भी निबन्ध-लेखन अनिवार्य है। निबन्ध-प्रेमियों और परीक्षार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर हिन्दी में कई निबन्ध-संग्रह निकले हैं और उनसे लोग लाभ भी उठा रहे हैं। इतना होने पर भी हिन्दी की उच्च परीक्षाओं के लिए ऐसी एक ही पुस्तक की आवश्यकता थी, जिसमें भिन्न भिन्न विषयों पर विभिन्न शैलियों में सारगर्भित निबन्ध हों। इसी बात को देखकर यह पुस्तक तैयार की गई है। अपना विचार तो सारे निबन्ध स्वयं लिखने का था, परन्तु इस प्रकार शैली और भाषा के अनेक विध का प्रदर्शन न हो पाता, यही सोच कर अपने केवल चार ही निबन्ध दिए हैं शेष निबन्ध अन्य प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों के उद्धृत किए हैं। इसके लिये मैं विद्वान लेखकों का हृदय से कृतज्ञ हूँ।

प्रेस की त्रुटियाँ न आने देने का पूर्ण निश्चय करने पर भी दो चार त्रुटियाँ आ ही गई हैं। जैसे पृष्ठ १५७ के फुटनोट में 'सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' चाहिये था और पृष्ठ २४८ पर २१वीं पंक्ति में 'अनश्वर' चाहिये। आशा है पाठक सुधार लेंगे। पुस्तक सम्पादन करते समय परीक्षोपयोगिता का अधिक ध्यान रखा गया है। पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक परीक्षार्थियों के लिए विशेष लाभकारी सिद्ध होगी।

गोपालचन्द्र देव

निबन्ध लेखन

किसी पदार्थ, व्यक्ति, गुण, स्वभाव आदि पर सुबोध भाषा में क्रमबद्ध और विस्तृत विचारों से युक्त लेख निबन्ध कहलाता है। प्रस्ताव प्रबन्ध आदि निबन्ध के ही पर्याय-वाचक हैं। हृदय के भावों और विचारों को औरों तक पहुँचाने के कविता, उपन्यास, गल्प आदि अन्य साधनों से इसकी अधिक महत्ता है। आजकल निबन्ध और निबन्ध-लेखक को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। समाज, धर्म और राजनीति में निबन्ध का बड़ा प्रभाव है। परीक्षाओं में भी विद्यार्थी की योग्यता को परखने की यही एक कसौटी है। अन्य विषयों में तो घोटा लगा कर सफलता प्राप्त की जा सकती है, किन्तु निबन्ध के लिए अपनी बुद्धि और प्रतिभा का ही सार निकालना होता है।

निबन्ध लिखने के लिए अपनी बुद्धि को सूक्ष्म और प्रतिभा को तीव्र तथा विस्तृत बनाना आवश्यक है। उत्तमोत्तम विचारों से परिपूर्ण पुस्तकों के अध्ययन से भावों में वृद्धि होती है। पर पुस्तकों के चुनाव में भूल करने से लाभ होने की सम्भावना बहुत कम है। निम्न कोटि के उपन्यास आदि से भावों और विचारों की पुष्टि और उनका परिमार्जन हो सकना असम्भव है, क्योंकि निबन्ध-लेखन के लिए आवश्यक सामग्री का उनमें अभाव रहता है। यद्यपि चतुर भौंरा उसमें से भी कुछ न कुछ रस ले ही लेता है, फिर भी सब के लिए यह सम्भव नहीं। तो भी किसी भी पुस्तक को पढ़ते समय उसमें से कुछ ले लेने की

भावना अवश्य बना लेनी चाहिए। स्वर्गीय श्री पद्मसिंह जी शर्म्मा कहा करते थे "चाहे उपन्यास को पढ़ो, उसमें से भी कुछ न कुछ प्राप्त करो। पढ़ते समय कागज पैंसिल अवश्य हाथ में होनी चाहिये।" यह सर्वथा ठीक है। संस्कृत में 'कापी' को 'सञ्चिका' कहा जाता है। जो अध्ययन शील व्यक्ति सञ्चिका को वास्तव में सञ्चिका बनाते हैं वे उत्कृष्ट निबन्ध-लेखक बन जाते हैं। भावों और विचारों का कोश सञ्चित किये बिना निबन्ध-लेखन में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। हम प्रतिदिन अनेक कार्य करते हैं, कई दृश्य देखते हैं, बहुत से साधारण और कुछ एक असाधारण व्यवहार करते हैं, यदि हम नितान्त जड़ नहीं हैं तो हमें उनसे एक विशेष अनुभव प्राप्त होता है और शिक्षा मिलती है। उस अनुभव और शिक्षा को ले लेकर भाव पुञ्ज एकत्रित करने से निबन्ध लिखने की शक्ति बढ़ती है। पर्वत, नदी, वन, देश, विदेश आदि में भ्रमण करने से भी अनुभव बढ़ता है। फिर उस सञ्चित राशि को व्यय करने से लेखक सफल निबन्ध-लेखक बना जाता है। कहा भी है—

"सरस्वती के भण्डार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खर्चे त्यों त्यों बढ़े बिन खर्चत घट जात॥"

अभ्यास की उपेक्षा लेखन शक्ति-लता के लिये पेनी छुरी है। एक कवि ने कहा है कि अभ्यास के अभाव में विद्या विष हो जाती है।

संसार में नाना प्रकार के लोग हैं, भाँति भाँति के भाव और विचार हैं, अतः निबन्धों के प्रकार निश्चित नहीं किये जा सकते, फिर भी साधारण दृष्टि से निबन्धों के तीन विभाग किये जा सकते हैं—वर्णनात्मक निबन्ध, आख्यानात्मक निबन्ध और

विचारात्मक निबन्ध। निबन्ध के प्रत्येक प्रकार के लिये पूर्ण अभ्यास की आवश्यकता है।

जैसे आजकल कवियों को कविता-निर्माण के लिये छन्द आदि बन्धनों का जाल खटकता है वैसे ही निबन्ध-लेखकों को भी निबन्ध में क्रम आदि का प्रतिबन्ध अखरता है। भूमिका, वर्णन, हानि लाभ, दृष्टान्त, उपसंहार—इस क्रम की उंगली पकड़ कर चलने में उन्हें लज्जा आती है, भाषा की भूल-भुलैय्या से उनका जी ऊब गया है। वे कवियों की भाँति स्वातन्त्र्य वाद के पक्षपाती हैं। वे कहते हैं कि प्रतिबन्ध लगाने से भावों की नदी रुक जाती है और विचारधारा अस्तव्यस्त हो कर गंदली हो जाती है। एक प्रकार से उनके ये विचार ठीक भी हैं। पर यह तो अत्यन्त उच्च लेखकों का पथ है। सर्व साधारण को अभी पहला पड़ाव पार करना है, इसलिये उनके लिये क्रम आदि का ध्यान रखना अनिवार्य है। उन्हें भाषा की सफाई और उत्कृष्टता को भी दृष्टि में रखना चाहिये, अश्लील, अप्रसिद्ध और लडखड़ाते शब्दों के प्रयोग से तथा पुनरुक्ति, वदतोव्याघात आदि दोषों से बचना आवश्यक है। यद्यपि शैली प्रत्येक लेखक की अपनी-अपनी होती है, फिर भी उत्कृष्ट लेखकों की शैलियों का निरीक्षण उपादेय है, इससे अपनी शैली परिमार्जित हो जाती है, किन्तु अनुकरण करना कदापि अच्छा नहीं कहा जा सकता। भाषा और भावों का सौन्दर्य बढ़ाने के लिये अलंकारों की पुट प्रशंसनीय है, परन्तु अलङ्कार ही अलङ्कार लाद देना कभी भी प्रशस्त नहीं।

सर्वाङ्ग पूर्ण निबन्ध लिखने का मार्ग देखने के लिए यह अल्प सा प्रकाश है।

—लेखक

कला

सर्व-साधारण कला के दो ही अर्थों से परिचित हैं—१ विद्या, जैसे शस्त्र-कला और २—कुशलता, जैसे सम्भाषण-कला। पर इनसे बढ़कर और गहरा अर्थ भी कला का है। एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय में तद्वत् पहुँचाने या उद्दीप्त करने की क्रिया का नाम भी कला है। भाषा जिस प्रकार एक मनुष्य के मस्तिष्क के विचारों को दूसरे तक पहुँचाने का साधन है उसी प्रकार कला एक के हृदय के भावों का दूसरे के हृदय तक ले जाने वाला वाहन है। जो व्यक्ति अपने हृदय में उठे शोक, आनन्द, विस्मय, करुणा आदि भावों को किसी उपकरण की सहायता से दूसरे के हृदय में तद्वत् जागृत कर पाता है, वह कलाकार कहा जाता है। कलाकार के उपकरण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कोई अपने स्वर की विशिष्ट रचना के द्वारा कोई अपने इंगित या अंग विक्षेप द्वारा, कोई अपनी कलम या कूची के द्वारा और कोई अपनी वाणी के द्वारा उन भावों को अपने हृदय से प्रकट और दूसरे के हृदय में जागृत करता है। अतएव किसी कलाकार का उपकरण होता है उसका स्वर, किसी का होता है उसका अंग विक्षेप, किसी की कलम और किसी की वाणी। स्वर के द्वारा अपनी कला का परिचय देने वाले को हम संगीत पटु, अंग-विक्षेप के द्वारा परिचय देने वाले को अभिनेता या नट, कलम के द्वारा देने वाले को चित्रकार और

वाणी के द्वारा देने वाले को कवि कहते हैं। स्थापत्यकारों की गणना भी कलाधरो में होती है। इस प्रकार उपकरण भेद से कला के भिन्न भिन्न विभाग हो गये हैं—सगीत-कला, नाट्य कला, चित्र कला, काव्य कला और स्थापत्य कला आदि। अक्सर लोग कला के इस मम को नहीं जानते। चित्रो में केवल रग-बिरगे, चमकीले भड़कीले चित्र को 'अच्छा' कह बैठते हैं। वे तो इतना ही देखते हैं कि किस चित्र पर हमारी आँखें गड जाती हैं कौन सुन्दर है, कौन लुभावना है, किसे देखकर हमारी आखों को आनन्द होता है। उनकी आनन्द और सौन्दय सम्बन्धी धारणाए भी उनके सस्कार के ही अनुरूप रहा करता है। चित्रकार और पत्रकार अक्सर उनकी सेवा के नाम पर, उनकी रुचि की दुहाई लेकर, ऐसे ही चित्रों के कनिष्ठ नमूने पेश करते रहते हैं जिससे उनके चित्र और पत्र खप जाएँ। सर्व-साधारण की व मस्कार हीन धारणाये ज्यों की त्यो बनी रहें तो रहें। इस कारण न सर्व-साधारण की कलाभिरुचि जागृत और परिष्कृत होती है न कला का विकास ही हो पाता है। वे बेचारे जान हा नहीं पाते कि अच्छा चित्र वह नहीं है जो आम तौर पर आखों को सुन्दर मालूम हो, बल्कि वह है जिसे देख कर हृदय में उच्च, पवित्र निर्मल भाव उदय हों। ऐसे भाव उठें जिनके द्वारा आचरण को सुधारने की, देश सेवा, जन सेवा करने की, कायरता छोड़ने और पुरुषार्थ बढ़ाने की, दुर्व्यसन और दुराचार से मुह मोड़ने और सद्गुणों की वृद्धि करने की उमग मन म पैदा हो। चित्र के अच्छे या बुरे होने की सब से अच्छी कसौटी यह है कि उसे देखकर मन मे उपभोग करने की वासना न उत्पन्न हो। जसे

यदि किसी स्त्री के चित्र को देखकर मन मे कामुक अनुराग उत्पन्न हुआ, किसी सुन्दर दृश्य को देखकर वहा विलास करने की इच्छा पैदा हुई तो समझ लो कि यह चित्र अच्छा नहीं है। क्योंकि चित्र को चित्रित करते समय जो भाव चित्रकार के मन मे प्रधानरूप से काम करता रहता है वही भाव चित्र मे प्रस्फुटित होता है और वही सामान्यत देखने वालों के मन पर अधिकार करता है। सक्षेप मे कहे तो जिस चित्र को देखकर मन मे कुविचार उत्पन्न होते हों, बुरे भाव उत्पन्न होते हों, वह अधम है, उसे कला का नमूना नहीं कह सकते। चित्रकार अपनी कला के बल पर अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के भाव समाज के हृदय मे उपजा सकता है। पर समाज का हित-साधन वही समाज कर पाता है जो विवेक से काम लेकर समाज के लिये आवश्यक भावो की सृष्टि करता है और समाज को ऊर्ध्वगामी बनाता है। इसलिये कलातत्त्वज्ञो ने ऐसे ही चित्रकार की कला को कला माना है, दूसरे प्रकार की कला को वे केवल अधम कला ही नही कहते, बल्कि उसे कला के आसन पर ही नहीं बैठने देते। जिस प्रकार सदाचारी मनुष्य को ही हम मनुष्य मानते हैं और दुराचारी मनुष्य को, उसके मनुष्य रहते हुए भी, हम पशु मानते हैं, उसी तरह समाज को ऊपर चढाने वाली कला ही सच्ची और एकमात्र कला है, समाज को अध पतन का रास्ता दिखाने वाली कला को कला न कहना ही सार्थक है।

कला का सम्बन्ध भाव से है, सुदरता से नहीं। दूसरे शब्दों मे यों कहें कि कला का सम्बन्ध रूप सुन्दरता से नहीं, भाव-सुन्दरता से है। रूप-सुन्दरता के पुजारी प्रकृति की प्रतिलिपि को

ही कला मानते हैं अर्थात सृष्टि मे जो वस्तु उन्हें जमी दिखाई देती है उसकी ज्यो की त्यों नक्ल कर देने, उसका हू बहू चित्र खडा कर देने की कुशलता को ही वे कला समझते हैं। इसलिये वे केवल प्राकृतिक दृश्यों के ही चित्र नहीं खींचते, प्राकृत ससार में मिलने वाली मनुष्य की नानाविध अवस्थाओं के ही चित्र बिना तारतम्य के नहीं खींचते, बल्कि नग्न और अर्धनग्न स्त्री पुरुषों के चित्र चित्रित करना भी अनुचित नहीं मानते। किसी भी माता या बहन ने पूछा है कि क्यों हजरत, जब चाहे जहा और जिस अवस्था मे हमे उपस्थित करने का गुस्ताखी आप क्यों कर रहे हैं? मेरी राय में अब यह समय आगया है कि समाज इस प्रवृत्ति पर अपना अकुश रखे। चित्रकारो के लिये ऐकान्तिक जीवन के ही ऐसे अनेक दूसरे प्रसग मिल सकते हैं, जिनके द्वारा वे अपनी कला का सदुपयोग कर सकते हैं।

यह तो हुई प्रकृति की प्रतिलिपि करने वाले चितेरों की बात। इनकी कला नाम से प्रचलित वस्तु को कलातत्त्ववित् यथार्थदर्शी कला कहते हैं। एक दूसरे प्रकार के कलामर्मज्ञ हैं। वे भाव सुन्दरता के उपासक हैं। वे कहते हैं रूप तो क्षणिक और गौण चीज है। भाव मुख्य वस्तु है। कुदरती चीजों की नक्ल कर देना कौन बड़ी बात है? हाथ और आख को जरा अभ्यास हो जाय तो बस है। इसमें बुद्धि, कल्पना, प्रतिभा के बल से काम नहा लिया जाता। भाव-सुन्दरता के लिये चित्रकार को अपनी नई ही सृष्टि रचनी पड़ती है। वह अपने हृदय के भाव विशेष या मूर्ति का व्यक्ति का रूप, देता है, जिसे देखते ही यह मालूम होता है कि यह कोई प्राकृत व्यक्ति नहीं साक्षात करुणा या

भक्ति की ही मूर्ति है। वह उस भावदर्शन के अनुरूप आदर्श अवयवों को अपनी प्रतिभा के साम्राज्य से खोज खोज कर लाता है और एक आदर्श भाव-सृष्टि खड़ी कर देता है। इसलिये ऐसे चित्रकार आदर्श-दर्शी कला के अनुगामी माने जाते हैं। आदर्श-दर्शी चित्रकार भावों को व्यक्ति का रूप देता है, यथार्थदर्शी चित्रकार प्राकृत संसार के व्यक्तियों का चित्र खींच कर उसमें भाव आरोपण करने का प्रयत्न करता है। आदर्शदर्शी चित्रकार का ध्यान हमेशा आदर्शदर्शन की ओर रहता है। यथार्थदर्शी कलाधर दुनिया की अच्छी बुरी, भद्र-अभद्र, सब चीजें आपके सामने लाकर रख देता है। आदर्शदर्शी कलाकार खुद विवेकपूर्वक चुनाव कर के अच्छी चीज आपके सामने पेश करता है। यथार्थ-दर्शी कलाकार स्वयं विवेक का उपयोग करने के झगडे में नहीं पडता, चुनाव और पसन्दगी का काम समाज पर छोड देता है। समाज का जी चाहे ऊपर चढे चाहे नीचे उतरे। वह तो अपने मन को जो चीज अच्छी लगी, आपके सामने पेश करके अलग हो गया।

कला की उत्पत्ति जीवन के मृदुल अंश से है। उसका जन्म रस में और परिणति आनन्द में है। जब जीवन में सजीवता और स्निग्धता होती है और इतनी होती है कि वह फूट कर बाहर निकलना चाहती है तब कला का उदय होता है। एक की सजीवता और स्निग्धता जिस प्रभावशालिनी विधि या वाहन के द्वारा दूसरे में जागृत होती है उसे कला कहते हैं। इस तरह कला एक माध्यम हुई दो हृदयों को एकरस बनाने का।

का, यह मधुर-मिलन किसी एक उद्देश्य

कला उसी का साधन है। किसी के मन में एक अनूठा भाव जगा। उससे न रहा गया। उसने कूची उठाई और एक कागज पर लकीरें खींच कर उसे अभिव्यक्त कर दिया। एक सजीव छवि बन गई। यह चित्र कला हो गई। यदि उस भावावेश में वह गाने या नाचने लगता तो वह सङ्गीत-कला और नृत्य कला हो गई होती। यदि अभिनय करने लगता तो उसे नाट्य-कला कह देते। काव्य में जिसे चमत्कार कहते हैं वही कला है। काव्य में ध्वनि भी कला है। काव्य स्वयं भी एक कला है, क्योंकि वह भी हृदय के भिन्न भिन्न भावों की अभिव्यक्ति ही है। रस उसमें सजीवता और आनन्द ला देता है। भाव जितना ही निर्दोष होगा, उच्च होगा, आनन्द और तन्मयता उतनी ही सात्विक होगी। हृदय उतना ही ऊँचा उठेगा और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करेगा। हमारे भिन्न भिन्न भाव, हमारे मानसिक व्यापार हमारे सारे पिण्ड के प्रतिबिम्ब हैं। हमारे पिंड में जैसे संस्कार सगृहीत हुए होंगे वैसी ही भावनायें हमारी होंगी। जैसी हमारी भावनाएं होंगी वैसी ही हम दूसरों में प्रेरित और जागृत करेंगे अर्थात् जैसे हम होंगे वैसे ही हम दूसरों को बनाने में सफल होंगे। इसलिये कलाकार जैसा होगा वैसी उसकी कलाकृति होगी और जैसी उसकी कृति होगी वैसा ही उसका परिणाम दूसरों पर होगा। कलाकार ने अपने अन्तःकरण के जिन तारों को छेड़ा है वही अपनी स्वर-लहरी द्वारा तत्सदृश तारों को दर्शक के अन्तःकरण में स्वरित करेंगे। विशुद्ध कलाकृति के लिये कलाकार का अन्तःकरण निर्दोष होना ही चाहिये। अन्तःकरण की मलिनता को धोने के लिये, मलिन वासनाओं को मिटाने के लिए, सत्य

की आराधना जरूरी है। भौतिक पदार्थों की आराधना उसे अधोमुख करेगी और क्षुद्रताओं से रागद्वेष से ऊपर न उठने देगी। हर जगह से सत्य को ही ग्रहण करने की वृत्ति उसे सत्य से भिन्न और नीची वस्तुओं के लोभ से हटाने की चेष्टा करेगी और उस क्रिया में उसका हृदय विशुद्ध होता जायगा। उसमें स्वार्थ भोग आदि के संस्कार नष्ट होते जाएंगे। क्योंकि ज्यों ज्यों वह सत्य की ओर आगे बढ़ेगा त्यों त्यों उसे उसमें इतना आनन्द, सुख और परोपकार देख पड़ेगा कि स्वार्थ, भोग आदि से उसका मन अपने आप हटता जायगा। इनकी साधना से मिलने वाला आनन्द या सुख बिल्कुल क्षणिक, भ्रमपूर्ण और परिणाम में पश्चात्तापात्मक मालूम होने लगेगा। इस तरह कलाकार जितना ही सत्य पूत होगा, उतनी ही उसकी कृति पवित्र और उज्ज्वल होगी। कला कलाकार की सृष्टि है। वह अपने जीवन के सारे सत्त्व को कलाकृति के रूप में जगत की भेंट करता है। उसकी कृति में जितनी ही सत्य की झलक होगी उतनी ही उसकी कला सृष्टि दिव्य और अमर होगी—उतनी ही वह जगत् को स्फूर्ति, जीवन, चैतन्य, आनन्द, सुख देगी।

संसार का परम सत्य यह है कि विश्व के अणु-रेणु में एक ही चैतन्य, एक ही प्रकाश, एक ही तेज, एक ही सत्ता निर्झरी और निर्झरी हुई है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व उस के बिना सम्भव नहीं है। हम ने इस सत्य को जाना तो, किन्तु इसका अनुभव कैसे हो? हमारे जीवन में इसकी प्रतीति हमें कैसे हो? हम अपने अन्दर इस चैतन्य को प्रत्यक्ष कैसे देखें? हम और वह आज पृथक् हैं, एक-दूसरे में मिल कैसे?

उपाय यह है कि हमारे हृदय का प्रत्येक भाव, हमारे मस्तिष्क का प्रत्येक विचार, हमारे दिल की हरएक धड़कन, हमारे फेफड़े की हर एक साँस, हमारा रोम-रोम इस स्फूर्ति से भर जाय कि सारे ब्रह्माण्ड में मैं फैला हुआ हूँ। सारी सृष्टि मेरे अन्दर है। जगत् का सुख दुःख मेरा सुख दुःख है। जगत् में कहीं कष्ट देखूँ तो ऐसा अनुभव हो कि यह कष्ट मुझे हो रहा है। संसार में कहीं आनन्द देखूँ, किसी को सुखी देखूँ, तो स्वयं कष्ट में रहते हुए भी उस आनन्द में नाचने लगूँ। मेरा शत्रु या हिंस्र पशु सामने आजाय तो मुझे उसमें अपनी ही आत्मा की ज्योति दिखाई दे। जब कलाकार इस स्थिति को पहुँच जाता है—अपने आप में इतना तल्लीन हो जाता है—या यों कहें कि अपने आप को भूल जाता है, सत्य की स्फुरणा ही अवशिष्ट रह जाती है, तब वह जो सृष्टि-रचना करता है, उसे कला कहते हैं। वह सत्य की झलक होती है। शान्ति, करुणा, प्रेम, उदारता वीरता शोक, उत्साह, साहस, चिन्ता किसी भी भाव की अभिव्यक्ति हो, होगी सत्य की प्रेरणा का फल। वह भाव मूल में सत्य से आरम्भ हुआ है, फिर शान्ति, वीरता, चिन्ता या किसी भी भाव में उसका विकास हुआ है, इस विकास की अभिव्यक्ति कला है। इसका परिणाम दर्शक के मन में उसी भाव की जागृति होगा। यह जागृति उसे उस मूल सत्य की ओर जाने की प्रेरणा करेगी जहां से कलाकार के मन में वह भाव स्फुरित हुआ है। इस प्रकार कला आदि में सत्यमूलक और अन्त में सत्याभिमुख है, मध्य में वह भाव विशेष का रूप ग्रहण कर लेती है। या यों कहें कि एक सत्यांश ने दूसरे सत्यांश को जगाने वाले भाव विशेष की अभि

व्यक्ति का नाम कला है। इस तरह कला एक कृति है, साधन है, अभिव्यक्ति है, साध्य नहीं है। उसका परिणाम है भावोन्मत्तता और साध्य है सत्य का साक्षात्कार—सत्य का दर्शन।

व्यावहारिक भाषा में कला का अर्थ है—कुशलता कला का अर्थ विद्या, हुनर भी है। इस अर्थ में कला एक मानसिक गुण हुई। और वह हर एक व्यावहारिक मनुष्य के अन्दर परम आवश्यक है। पर कला से अभिप्राय यहां उस कृति से है जो हमारे हृदय को जगा देती है, बार बार उसे गति देती रहती है, बस इसके आगे उसका काम खतम हो जाता है। कलाकार आपका हाथ पकड़ कर—आप का साथी या नेता बनकर, आपकी सहायता नहीं करता, वह तो एक ऐसा दृश्य दिखा देता है जिससे आपके अन्तःकरण में एक हलकी मीठी गुदगुदी उत्पन्न होती है और आपकी आत्मा जागृत होने लगती है। मृदुलता कला का जीवन है। समवेदना उसकी जननी है। किसी कल्पना या दृश्य से कलाकार के हृदय को चोट पहुँचती है, क्षोभ होता है या आनन्द होता है। उससे उसके अन्तःकरण के कपाट खुलते हैं, वहा से एक रस की धारा फूटती है। समवेदना उसमें मृदुलता की दूसरी धारा छोड़ती है। दोनों मिलकर किसी उपकरण के द्वारा कोई स्थूल रूप ग्रहण करती हैं—उसे हम कला कहते हैं। अतएव कला का कार्य केवल दूसरे चित्रों की नकल, या मानवमूर्तियों का चित्रण, अथवा सृष्टि के विविध दृश्यों का दर्शन नहीं है, बल्कि भावदर्शन के द्वारा भावोद्बोधन है। कलाकार मानवमूर्तियों में भाव का प्रवेश नहीं करता, बल्कि भावों की मानवमूर्तियों को पार्थिव दृश्यों में उपस्थित करता है। जिन दृश्यों को

मनुष्य प्राय: अपने जीवन में देखता है उनकी प्रतिकृति उसका कार्य नहीं है, बल्कि एक नई सृष्टि रचना उसका कार्य है उसे एक दूसरा विधाता ही समझिए। वह हमारे विधाता की रची सृष्टि की नकल नहीं करता, बल्कि उसमें सुधार करता है उससे अधिक परिष्कृत, सुन्दर, कोमल, मनोहर और दिव्य सृष्टि रचना चाहता है। वह एक आदर्श को मानवी हाथ पाँव आदि अंग जोड़ कर हमारे सामने रखता है। इस अंग-रचना में वह अपने को स्वतन्त्र समझता है। वह यदि यह समझता है कि अंगुलियां लम्बी बनाने से चित्र की सुन्दरता बढ़ेगी तो फिर इस बात का विचार नहीं करता कि महादेव ने तो इतनी लम्बी अंगुलियाँ मनुष्य की नहीं बनाई हैं, मैं कैसे बनाने का साहस करूँ? इस अर्थ में कलाकार मौलिक, साहसी और स्वतन्त्र होता है।

कला को उदर पूर्ति का साधन हरगिज न बनाना चाहिये। पेट जब तक मनुष्य के साथ लगा हुआ है तब तक उसकी पूर्ति अनिवार्य है, परन्तु उसके लिये जीवन के प्रधान और महान उद्देश्य को बिगाड़ा नहीं जा सकता। जो महान् और सच्चे उद्देश्य के लिये जीते हैं उन्हें न तो पेट की चिन्ता होती है और न उन्हें वास्तव में भूखा मरना ही पड़ता है, यदि मरना भी पड़े तो उसमें भी वे अधिक आनन्दित रहते हैं और चमकते हैं। उदर-पूर्ति का भाव प्रधान हुआ नहीं और कला भ्रष्ट हुई नहीं क्योंकि कला फिर कलाकार की आत्मा की ज्योति नहीं रह जाती, अन्नदाता या धनदाता की रुचि की दासी बन गई। कहाँ आत्मा की स्वतन्त्र ज्योति और कहाँ दूसरे की रुचि की गुलामी? कितना स्पष्ट पतन! पेट की चिन्ता पुरस्कार की इच्छा इन्हीं कलाकारों को

हो सकती है जिन्हाने किसी उच्च या महान् उद्देश्य के अनुवर्ती होकर कला जीवन नहीं आरम्भ किया है। यह कला-मर्मज्ञ और कला रसिक लोगों का कर्त्तव्य है कि वे कलाकारों की जीविका का उचित प्रबन्ध कर दिया करें। जब तक समाज या कला रसज्ञ अपने कर्त्तव्य के प्रति जागृत नहीं हैं तब तक कलाकार के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो अपनी कला का दाम लगाकर स्वय धनोपार्जन करे, या कष्ट पाकर समाज को अपने कर्त्तव्य का भान कराने। पहले प्रकार का कलाकार समाज को कुछ कला कृतिया तो देगा, उनसे समाज का मनोरञ्जन विशेपरूप से होगा, परन्तु समाज मे जागृति कम होगी और उसे बोध उससे भी कम मिलेगा। इसके विपरीत जो कलाकार धनाभाव में कष्ट सहन करेगा वह समाज मे एक जागृति उत्पन्न करेगा, और उस कष्ट की भावनाओं से प्रेरित होकर जो कलाकृतिया निर्माण करेगा उनमे अद्भुत प्रभाव, बल और जीवन होगा, जिससे समाज को अमित लाभ होगा। आसानी से धनोपार्जन करके हम केवल अपने कुटुम्ब का भरण पोपण निश्चिन्तता के साथ कर सकते हैं, किन्तु धनाभाव से कष्ट उठा कर हम सारे समाज की आत्मा को जगाने का पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। जो वस्तु हमारे लिये आवश्यक है उसके न मिलने से शरीर या मन को जो क्लेश होता है उसे सहना, उसे कष्ट न समझना, बल्कि इससे भी आगे ——— ——े आनन्द मानना, कष्ट सहन है। इसके द्वारा हम ... संस्थाओं, श्रेणियों का ध्यान आ...
है, ... आवश्यक है कि वे उस वस्तु
... इस बात की खबर पहुँ...

सोचने लगेंगे कि अमुक आदमी ऐसा क्या कर रहा है ? उसके बाद ही वे य सोचेंगे कि इस विषय में हमारा क्या कर्तव्य है ? इसके पश्चात् वे उसके साधन की पूर्ति करने की चेष्टा करेंगे। जबानी या लिखित माग के द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है किन्तु दोनों के प्रभाव और फल में अन्तर है। जबानी और लिखित माग उस वस्तु की अनिवार्यता उतने जोर के साथ नहीं जाहिर करती जितनी कि कष्ट-सहन द्वारा की गई माग। फिर कष्ट-सहन से अपने में सन्तोष और संयम का गुण बढ़ता है एवं दूसरे में कर्तव्य-जागृति का।

इतने विवेचन से पाठक यह अच्छी तरह समझ चुके होंगे कि कला वही है जिसकी प्रेरणा आत्मा की सत्यता, स्वतन्त्रता और पवित्रता से मिली हो और कलाकार वह है जिसने जीविका के बाजार में बेचने के लिये कला को न सिरजा हो।

—हरिभाऊ उपाध्याय

वैसा ही होता है। हम लोगों में पुराने ज़माने में भाट, चारण आदि अपनी अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर रामचरित आदि दृश्यकाव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है, वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है। पुराने ज़माने में ग्रीस के एथेन्स नगरवाले मेगारावालों से वैर भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफे लड़ाइयाँ हुईं। पर हर बार एथेन्सवालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह पर खड़े होकर एथेन्सवालों को सुनाया। कविता का भाव यह था—

"मैं एथेन्स में न पैदा होता तो अच्छा था। किसी और देश में क्या न पैदा हुआ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था, जहाँ के निवासी मेरे भाइयों से अधिक वीर अधिक कठोर हृदय और उनकी विद्या में बिलकुल बेखबर होते। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक सन्तुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है, जहाँवाले मेगरा के निवासियों से लड़ाई में हार गए और मैदान से भाग निकले। प्यारे देशबन्धु! अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलंक को फौरन धो डालो। अपनी लज्जा जनक पराजय का अपयश दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओं के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुड़ा लो, तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।" लोगों के दिल पर

इस कविता का इतना असर हुआ कि फौरन मेगरावाला पर चढाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेडा हुआ था, उसे एथेन्सवालों ने लेकर ही चैन लिया। इस चढाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इँगलैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मोजूद हैं कि कवियों ने असम्भव बातें सभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्त हिम्मती का दार दौरा था, वहाँ जोश पैदा कर दिया है। जहाँ शांति थी, वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है, क्योंकि सभ्यता और कविता मे परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता मे कुछ न कुछ झूठ का अश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों को यह अश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास खास स्थलों का जितना प्रभाव स्त्रियों पर पड़ता है उतना पढे लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था, उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृत बातों का वर्णन कवि करते हैं, उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नये कवि होते हैं, वे भी उलट फेर से प्राय उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। से अब क[illegible] [illegible]ि होती है।

वैसा ही होता है। हम लोगों में पुराने ज़माने में भाट, चारण आदि अपनी अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर रामचरित आदि दृश्यकाव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है, वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है। पुराने ज़माने में ग्रीस के एथेन्स नगरवाले मेगारावालों से बर भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफ़े लड़ाइयाँ हुईं। पर हर बार एथेन्सवालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी। उसे उसने एक ऊँची जगह पर खड़े खड़े एथेन्सवालों को सुनाया। कविता का भाव यह था—

"मैं एथेन्स में न पैदा होता तो अच्छा था। किसी और देश में क्यों न पैदा हुआ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था, जहाँ के निवासी मेरे भाइयों से अधिक वीर, अधिक कठोर हृदय और उनकी विद्या से बिलकुल बेख़बर होते। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक सन्तुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है, जहाँवाले मेगरा के निवासियों से लड़ाई में हार गए और मैदान से भाग निकले। प्यारे देशबन्धु! अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलंक को फ़ौरन धो डालो। अपनी लज्जा जनक पराजय का अपयश दूर कर दो। जब तक अपने अन्यायी शत्रुओं के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुड़ा लो तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।" लोगों के दिल पर

इस कविता का इतना असर हुआ कि फौरन मेगरावालो पर चढाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेडा हुआ था, उसे एथेन्सवालो ने लेकर ही चैन लिया। इस चढाई मे सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इंगलैड, अरब, फारस आदि देशो मे इस बात के सैकडो उदाहरण मौजूद है कि कवियों ने असम्भव बातें सभव कर दिखाई हैं। जहाँ पस्त हिम्मती का दौर दौरा था, वहाँ जोश पैदा कर दिया है। जहाँ शाति थी, वहाँ गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज है। परन्तु विरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती—जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है, क्योंकि सभ्यता और कविता मे परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्ध-सभ्य लोगों का यह अश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास खास स्थलों का जितना प्रभाव स्त्रियो पर पडता है उतना पढे लिखे आदमियो पर नहीं। पुराने काव्यों को पढने से लोगो का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था, उतना अब नहीं होता। हजारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृत बातो का वर्णन कवि करते हैं, उनका वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका। जो नये कवि होते हैं, वे भी उलट फेर से प्राय उन्हीं बातो का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी नज़र पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका असर लोगों पर पूरा पूरा पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति विशेष के गुण-दोषों को देख कर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों, उन्हें यदि वह बेरोकटोक कर दे, तो उसकी कविता हृदयद्रावक हुए बिना न रहे। परन्तु परतन्त्रता, पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी कारण से सच बात कहने में किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों में, कटु होने के कारण सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए, अथवा जिस विषय में रोक हो, उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गर्मी, सर्दी आदि ही के वर्णन से उसे सन्तोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं उनको

खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रय दाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से बहुत दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुंचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से, यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकार शास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है, परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार हैं? किसी कवि की बे सिर पैर की बातें सुन कर किस समझदार आदमी को आनंद प्राप्त हो सकता है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं, वह समाज कभी प्रशंसनीय नहीं समझा जाता। काबुल के अमीर हबीबुल्ला खाँ ने अपनी कविता-बद्ध निराधार प्रशंसा सुनने से, अभी कुछ ही दिन हुए, इन्कार कर दिया था। खुशामद-पसंद आदमी कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते।

कारण-वश अमीरों की झूठी प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आमरण लगे रहने से कविता की सीमा कट-छंटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो कोई अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, किसी [illegible]इए, आशिक माशूक के रंगीन रहस्यों से आप [illegible]न्त तक रँगी हुई पाइएगा। इश्क भी यदि सच्चा [illegible] असलियत आ सकती है।

कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठंडी साँस लेना, जीते जी अपनी कब्रों पर चिराग जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक। इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे, लिखने से बाज नहीं आते। नख शिख नायिकाभेद अलङ्कार शास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं, अपनी व्यर्थ बनावटी बातों से देवी देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचते। इसका फल यही हुआ कि कविता की असलियत काफूर हो गई है। उसे सुन कर सुनने वाले के चित्त पर कुछ भी असर नहीं होता। उलटे कभी कभी मन में घृणा का उद्रेक अवश्य उत्पन्न हो जाता है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है, तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्या, सर्व साधारण की बोल चाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं, उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोल-चाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं।

कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहाविरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोल-चाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उलटे अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नई तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है, तो लोग उसकी निन्दा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छन्दोदिवाकर" में दिये गये लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि जिसे वे अब तक कविता कहते आये हैं, वही उनकी समझ में कविता है, और सब कोरी काँव काँव। इसी तरह की नुकताचीनी से तंग आकर अंगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सान्त्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ खिंचना तो दूर रहा, उलटे सब कहीं तेरी निंदा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर मैं घमण्ड करता हूँ। याद रख तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं, वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद चूर्ण हो जाता है।"

गोल्टस्मिथ ने इस विषय में बहुत कुछ कहा है पर हमने उसके कथन का सारांश बहुत ही थोड़े शब्दों में दिया है। इससे प्रकट है कि नई कविता प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करनेवाले कवि प्रकाण्डों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर उधर होना उचित नहीं। नई बातों से घबराना और उनके पक्षपातियों की निन्दा करना मनुष्य का स्वभाव ही सा हो गया है। अतएव नई भाषा और नई कविता पर यदि कोई नुक्ताचीनी करे तो आश्चर्य नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंगरेज़ी की पोइट्री (Poetry) और वर्स (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरञ्जक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य्य नहीं। संस्कृत का प्रायः सारा पद्य समूह बिना तुकबन्दी का है, और संस्कृत से बढ़ कर कविता शायद ही किसी और भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे अच्छे कवि हो गये हैं। वहाँ भी शुरू शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल ख़याल न था। अंगरेज़ी में भी अनुप्रासहीन और बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात ज़रूर है। इस वज़न और क़ाफ़िये से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है। पर कविता के लिए ये बातें ऐसी ही हैं जैसे शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म्म मनोरञ्जकता और प्रभा-

बोधोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए क़ाफ़िए वग़ैर की ज़रूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उलटे हानिकर हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातन्त्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर क़ाफ़िया और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट होने देते। क़ाफ़िये और वज़न को पहले ढूँढ़ कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है, और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। इससे कवि अपने भाव स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं प्रकट कर सकता। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है। कभी कभी तो वह बिलकुल ही जाता रहता है। अब आप ही कहिए कि जो वज़न या क़ाफ़िया कविता के लक्षण का कोई अंश नहीं, उसे ही प्रधानता देना भारी भूल है या नहीं।

जो बात एक असाधारण और निराले ढङ्ग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाय कि सुननेवाले पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर पड़े उसी का नाम कविता है। आज कल हिन्दी में जो सज्जन पद्य-रचना करते हैं और उसे कविता समझ कर छपाने दौड़ते हैं, उनको यह बात ज़रूर याद रखनी चाहिए इन पद्य

रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़ कर समझते हैं। यदि कोई सम्पादक उन्हें प्रकाशित करने से इनकार करता है तो वे अपना अपमान समझते हैं और बेचारे संपादक के खिलाफ नाटक, प्रहसन और व्यंग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन मिटाते हैं। वे यह बात बिलकुल ही भूल जाते हैं कि यदि उनकी पद्य रचना अच्छी हो तो कौन ऐसा मूर्ख होगा जो उसे अपने पत्र या पुस्तक में सहर्ष और सधन्यवाद न प्रकाशित करेगा?

कवि का सबसे बड़ा गुण नई नई बातों का सूझना है। उसके लिए कल्पना (Imagination) की बड़ी जरूरत है जिसमें जितनी ही अधिक शक्ति होगी, वह उतनी ही अधिक अच्छी कविता लिख सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नये नये भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं, वह कभी अच्छी कविता नहीं लिख सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं। इसीलिए संस्कृत-वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है। अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। इसकी बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है, वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को अजीब निराले ढङ्ग से बयान करता है जिसे सुनकर सुननेवाले के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी कभी बहुत अद्भुत बातें कह देते हैं। जो कवि नहीं हैं, उनकी पहुँच वहाँ तक हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति विकास को खूब ध्यान से

देखे। प्रकृति की लीला का कोई छोर नहीं। वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब अजीब कौशल दिखाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ ही नहीं सकते। पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है, और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ भी पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति पर्य्यालोचन के सिवा कवि को मानव-समाज की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख,दु:ख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक-सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विचार-तरंगें उसके मन में उठा ही करती हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इसका अनुभव करने और कविता द्वारा औरों को इसका अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ, उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दु:ख से जाता [illegible] ऐसा मालूम होने लगता है कि वह [illegible] है। जिस कवि को

बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं, वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

हाली के मुकद्दमे को पढ़कर, जिसके आधार पर यह निबन्ध लिखा गया है, हमारे एक मित्र महाशय ने अलङ्कार शास्त्र के कुछ आचार्यों की राय लिखी है, और संक्षेपतया यह दिखलाया है कि हमारे आलङ्कारिकों ने कविता के लिए किन किन बातों की जरूरत समझी है। आपके कथन का आशय हम नीचे देते हैं। पाठक देखेंगे कि हाली की राय संस्कृत साहित्य के आचार्यों से बहुत कुछ मिलती है, सुनिए—

> नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतञ्च बहु निर्मलम्।
> अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारणं काव्यसम्पदः ॥
> (आचार्य्य दण्डी—काव्यादर्श)

अर्थात् स्वाभाविकी प्रतिभा-शक्ति (१) शब्द शास्त्रादि और (२) लोकाचारादि का विशुद्ध ज्ञान तथा (३) प्रगाढ़ अभ्यास यह सब मिलकर काव्य रूपी सम्पत्ति का कारण है। "श्रुत" शब्द के अर्थ पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने ये किये हैं—"श्रुत शास्त्र ज्ञान लोकाचारादि ज्ञानञ्च।" पर-सृष्टि-कार्य और मानव-स्वभाव इन दोनों के ज्ञान का बोधक लोकाचारादि ज्ञान है। इस का उल्लेख हाली ने अपनी दूसरी और तीसरी शर्त "सृष्टि-कार्य-पर्य्यालोचना" और "शब्द विन्यास चातुर्य" में किया है। प्रगाढ़ अभ्यास की आवश्यकता हाली ने "आमद और आवुर्द में फर्क" इस विषय पर बहस करते हुए दिखलाई है।

इसी अभिप्राय का एक श्लोक यह भी है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

अर्थात् प्रतिभाशक्ति, काव्यादि शास्त्र तथा लोकाचारादि के अवलोकन से प्राप्त हुई निपुणता और काव्यज्ञों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास, ये तीनों बातें कविता के उद्भव में हेतु हैं। कई आचार्यों ने प्रतिभा को ही काव्य का कारण मान कर व्युत्पत्ति को उसकी सुन्दरता और अभ्यास को वृद्धि का हेतु माना है यथा—

कवित्व जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासयागतम् ।
तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी ॥

इस मत की पुष्टि भी हाली के उस लेख से होती है जो उन्होंने सब से पहली शर्त 'तखय्युल" (प्रतिभा) में लिखा है।

इन्हीं सब बातों को हाली ने अपने मुकद्दमे में, ३७ से ५४ पृष्ठ तक, उदाहरणादिकों से पल्लवित किया है।

सृष्टि-कार्य-निरीक्षण की आवश्यकता कवि को क्यों है? इस बात को हाली ने "मसनवी" पर बहस करते हुए, एक उदाहरण द्वारा, समझाया है। वे लिखते हैं—

इसी प्रकार किस्से में ऐसी छोटी छोटी प्रासंगिक बातों का बयान करना, जिन्हें तजरबा और मुशाहिदा झुठलाते हों कदापि उचित नहीं। इससे आख्यायिकाकार का इतना बेसलीकापन साबित नहीं होता, जितनी उसकी अज्ञता और लोक वृत्तांत से अनभिज्ञता या जरूरी अनुभव प्राप्त करने से बेपरवाही साबित होती है। जैसा कि "बदरे मुनीर" में एक खास मौके और वक्त का समाँ

इस तरह बयान किया गया है—

वो गाने का आलम वो हुस्ने बुताँ।
वो गुलशन की खूबी वो दिन का समाँ॥
दरख्तों की कुछ छाँव और कुछ वो धूप।
वो धानों की सब्ज़ी वो सरसों का रूप॥

आखिरी मिसरे से यह साफ़ प्रतीत होता है कि एक तरफ़ धान खड़े थे और एक तरफ़ सरसों फूल रही थी। मगर यह बात वाक़े के खिलाफ़ है, क्योंकि धान खरीफ़ में होते हैं और सरसों रबी में गेहूँ के साथ बोई जाती है।

कवि-कुल गुरु कालिदास के विश्व विख्यात काव्य, तथा कविवर बिहारीलाल की सतसई से, इसी विषय का एक एक प्रत्युदाहरण सुनिए।

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥—रघुवंश।

रघु की दिग्विजयार्थ यात्रा के उपोद्घात में शरद् ऋतु का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि ईख की छाया में बैठी हुई धान रखाने वाली स्त्रियाँ रघु का यश गाती थीं। शरत्काल में जब धान के खेत पकते हैं, तब ईख इतनी बड़ी हो जाती है कि उसकी छाया में बैठ कर धान रखा सकें। ईख और धान के खेत भी प्रायः पास ही पास हुआ करते हैं। कवि को ये सब बातें विदित था। श्लोक में इस दशा का, इस वास्तविक घटना का चित्र सा खींच दिया गया है। श्लोक पढ़ते ही वह समाँ आँखों में फिरने लगता है।

महाराजाधिराज विक्रमादित्य के सखा, राजसी ठाठ से रहने वाले कालिदास ने, गरीब किसानों की, नगर से दूर, जङ्गल से

सम्बन्ध रखनेवाली एक वास्तविक घटना का कैसा मनोहर चित्र उतारा है। यह उनके प्रकृति पर्यालोचक होने का दृढ़ प्रमाण है। दूसरा प्रत्युदाहरण —

सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं धर धरहर हिय नारि ॥

— सतसई।

पहले सन सूखता है, फिर बन-बाड़ी या कपास के खेत की बहार खतम होती है। पुनः ईख के उखड़ने की बारी आती है, और इन सब से पीछे गेहूँ के समय तक अरहर हरी भरी खड़ी रहती है।

ये सब बातें कवि ने कैसे सुन्दर और सरल ढंग से क्रमपूर्वक इस दोहे में बयान की हैं। इसमें अनुप्रास की छटा आदि अन्य काव्य-गुणों पर ध्यान दिलाने का यह अवसर नहीं। यहाँ तक पूर्वोक्त महाशय की राय हुई।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्दस्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ ढूँढ कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ जो सुननेवाले की आँखों के सामने वर्ण्य विषय का चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता तो कम जरूर हो जाता है। इसलिए कवि को चुन चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिएँ और इस क्रम से रखने चाहिएँ, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव युक्ति-संगत शब्द-स्थापना के बिना

कवि की कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफी शब्द समूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं, उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने में बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते। आजकल के पद्य रचनाकर्त्ता महाशयों को इस बात का बहुत कम खयाल रहता है, इसी से उनकी कविता, यदि अच्छे भाव से भरी हुई भी हो, तो भी बहुत कम असर पैदा करती है। जो कवि प्रति पंक्ति में निरर्थक 'सु' 'जु' और 'रु' का प्रयोग करता है, वह मानों इस बात का सुबूत ही सार्टीफिकेट दे रहा है कि मेरे अधिकृत शब्द कोश में शब्दों की कमी है। ऐसे कवियों की कविता कदापि सर्वप्रिय और प्रभावोत्पादक नहीं हो सकती।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किये हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हुई हो और असलियत से गिरी हुई न हो।

सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो, बल्कि विचार परम्परा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब ही समझ में न आवे, या देर में समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो। कविता पढ़ने या सुननेवाले को ऐसी साफ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कङ्कड़, पत्थर, टीले,

गन्दक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह खूब साफ़ और हमवार हो, जिससे उस पर चलनेवाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क ज़रा भी ऊँची नीची होने से बाइसिकिल (पर गाड़ी) के सवार को धचके लगते हैं, उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी भी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता रूपी सड़क के इधर उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ़ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों की नई नई झाड़ियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनियाँ में आज तक जितने अच्छे अच्छे कवि हुए हैं, उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी क़द्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ क़द्र हुई भी है तो थोड़े ही दिनों तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखा शब्द झंकार ही जिन कवियों की करामात है, उन्हें चाहिए कि वे एक दम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोलचाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोल-चाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं [illegible] और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी [illegible] मुहावरे का ख्याल रखना चाहिए।

मुहावरा सब सम्मत हो, उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि चाल-चाल के हों तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई कोई ऐसे शब्दों को उनके मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है। जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा में आ जाता है, तब वह उसी भाषा का हो जाता है। अतएव उसे उसकी मूल भाषा के रूप में लिखते जाना भाषा विज्ञान के नियमों के खिलाफ है। खुद 'मुहावरा' शब्द को ही देखिए। जब उसे अनेक लोग हिन्दी में 'मुहावरा' लिखने और बोलने लगे, तब उसका असल रूप जाता रहा। वह हिन्दी का शब्द हो गया। यदि अन्य भाषाओं के बहु प्रयुक्त शब्दों का मूल रूप ही शुद्ध माना जायगा तो घर, घड़ा, हाथ पाँव नाक, कान, गज, मुसलमान कुरान, मैगजीन, एडमिरल, लालटेन आदि शब्दों को भी उनके पूर्व रूप में ले जाना पड़ेगा। एशियाटिक सोसाइटी के जनवरी १९०७ के जर्नल में फ्रेंच और अँगरेजी आदि युरोपियन भाषाओं के १२८ शब्द ऐसे दिये गये हैं जो फारस के फारसी अखबारों में प्रयुक्त होते हैं। इनमें से कितने ही शब्दों का रूपान्तर हो गया है। अब यदि इस तरह के शब्द अपने मूल रूप में लिखे जायँगे तो भाषा में बेतरह गड़बड़ पैदा हो जायगी।

असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का खयाल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत

से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बे-बुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो, वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह भी उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् यदि उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उलटा ही क्यों न समझते हों। परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविक अर्थात् 'नेचुरल' (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं, अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतन्त्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है, असल बात को एक नए साँचे में ढाल कर कुछ दूर तक इधर उधर भी उड़ान कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानों कविता को प्राय निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द-प्रयोग करते हैं, वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई ऐसी बात न कहनी चाहिए जो दुनियाँ में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं, अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। हम इन बातों को उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट कर देते, पर लेख बढ़ जाने के डर से ऐसा नहीं करते।

जोश में यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे, इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त उसके मुह

निकल गये हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं, किन्तु यह मालूम हो कि उसके हृदयगत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देख कर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढङ्ग से करता है कि यदि उन चीजों में बोलने की शक्ति होती, तो खुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। सम्भव है, शब्द जोरदार न हों, पर जोश उनमें छिपा हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी से तेज तलवार का काम लेना जानते हैं, वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है! परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इन में से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। कभी कभी सादगी और जोश पाये जाते हैं, असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतः कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा

भारतवर्ष जैसे विशाल राष्ट्र की सर्वाङ्गीण उन्नति होने के लिये भिन्न भिन्न गुण और स्वभाव वाली प्रान्तीय जातियों की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही भारतीय संस्कृति के सार्वदेशिक विकास के लिये भिन्न भिन्न भाषाओं की भी आवश्यकता है, किन्तु जैसे भिन्न भिन्न इन्द्रियों में सञ्चार करने वाला मन तो एक ही है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण शरीर में एकरूपता और एक-प्राण का सञ्चार होता है, उसी तरह आज हिन्दुस्तान में एक राष्ट्रीयता की भावना जागृत तथा व्यक्त करने के लिये राष्ट्रीय भाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। पर यह आवश्यकता आज ही उत्पन्न हुई हो सो नहीं, बहुत प्राचीन काल से हिन्दुस्तान में प्रयत्नपूर्वक राष्ट्रीय भाषा निर्माण करके उसे विकसित किया गया है। जब हिन्दू राष्ट्र तेजस्वी था, सुसंस्कृत था सम्पूर्ण जगत् में श्रेष्ठ था उस समय भारतवर्ष के उत्तमोत्तम विचार, आर्यों के काव्य और तत्त्वज्ञान, आर्यों के पराक्रमों के वर्णन और आर्यों की शास्त्रीय खोजें आदि सभी शुद्ध, उदात्त और संस्कृत भाषा में की जाती थीं और इसीलिये उस भाषा को देववाणी का गौरवान्वित पद प्राप्त हुआ। जब भारतवर्ष की अवनति हुई, भारत की अभिरुचि बिगड़ी, तब भी हीन विचार और अश्लील कल्पनाओं से संस्कृत भाषा को दूषित कर देना उस वक्त के लोगों ने ठीक न समझा, इसलिये उन्होंने प्राकृत भाषाओं का आश्रय लिया। संस्कृत

भाषा में आर्यों को शोभित करने वाले शुद्ध विचार ही लिखे जाते थे। आगे चलकर यह स्थिति भी भ्रष्ट हुई, राष्ट्रीय-जीवन क्षीण हुआ और फिर कुछ भी नियम न रह गया। बीच में हिन्दुओं ने फिर से खड़े होने का प्रयत्न किया और उस समय भी उन्होंने श्रेष्ठ विचारों के लिए संस्कृत भाषा का ही दोहन किया, पर लोक-जागृति के लिए उस समय की प्रचलित भाषाओं को उपयोग में लाने के सिवा दूसरा चारा नहीं था। अतः जहां तक हो सका संस्कृत वाङ्मय का प्रचलित भाषाओं में रूपान्तर कर दिया गया। आज राष्ट्रीय जीवन फिर से जाग के साथ फुकार मारने के लिए प्रयत्न कर रहा है। उसे प्रकट करने के लिए राष्ट्रीय-भाषा की भी आवश्यकता उत्पन्न हुई है। अतः सवाल खड़ा हुआ कि यह राष्ट्र भाषा कौन सी हो? यह एक अत्यन्त व्यावहारिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हुआ है। राष्ट्र की उन्नति तो पूर्ण परम्परा का अनुसरण करके ही हो सकती है। यह महान् सिद्धान्त जिसे मान्य है उसके आगे यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि आज की राष्ट्र भाषा संस्कृत-परम्परा का अनुसरण करके ही होनी चाहिए।

पर आज भारत में केवल हिन्दू ही नहीं रहते। अद्वैतवादी, प्रेम धर्मी हिन्दुस्थान में इस्लाम और इस्लामी संस्कृति को हमेशा के लिए स्थान मिला है और इससे भारत की राष्ट्रीय संस्कृति को एक शिष्ट मार्ग प्राप्त हुआ है। यह मार्ग भी राष्ट्रीय-भाषा में व्यक्त होना चाहिए। यह प्रयत्न मुसलमानी राज्य के उत्कर्ष-काल में हुआ था। बड़े बड़े हिन्दू पण्डित अरबी और फारसी भाषा का अध्ययन करके उन भाषाओं में अप्रतिम काव्य लिखते थे और

बहुतेरे मुसलमान बादशाह संस्कृत-पण्डितों को आश्रय देकर और स्वयं संस्कृत-साहित्य का अध्ययन करके हिन्दू-संस्कृति का रहस्य समझने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार धीरे धीरे भारतवर्ष की भाषा निर्माण हुई। हिन्दी और उर्दू उस भाषा के दो स्वरूप हैं। मुसलमानी राज्य में धार्मिक विरोध पूर्णता से नष्ट न हो सका, हिन्दू और मुसलमानों की रहन सहन एक न हो सकी और इसी कारण हिन्दी और उर्दू के बीच का भेद बना रहा। वर्तमान स्थिति में यह विरोध तेजी से घटता जा रहा है, इसलिए सम्भव है कि थोड़े से प्रयत्न से हिन्दी और उर्दू के बीच का भेद बहुत ही घट जाए। मुसलमानी सत्ता के बाद अंग्रेजी राज्य और अंग्रेजी संस्कृति का बहुत ही प्रबल प्रभाव हम पर पड़ा है, जिसके कारण भारतवर्ष की सभी भाषाओं पर और जन-समुदाय की विचार-शैली पर अंग्रेजी पद्धति का प्रभाव पड़ा है। यह सर्वथा अनिष्ट है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी विचार-पद्धति और अंग्रेजी ढङ्ग की वाक्य रचना केवल आधुनिक सुशिक्षित गण की भाषा ही में दीखती है। जन साधारण की भाषा को उसका स्पर्श नहीं हुआ। यह भी एक तरह से इष्ट ही है।

अंग्रेजों ने भारत को अपना देश नहीं बनाया है। उन्हें तो यहां केवल राज्यकर्ता ही के समान रहना है। उन्हें हिन्द-पुत्र नहीं होना है। इसीलिए उनकी भाषा भी यहां कदापि बद्धमूल न होगी। जिस तरह हम पर अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है, किन्तु अंग्रेज लोग हमारे साथ नहीं रहते हैं, न हमारे साथ मिलते जुलते ही हैं उसी तरह अंग्रेजी साहित्य और उनकी विचार पद्धति का प्रभाव हम पर होते हुए भी अंग्रेजी भाषा का

भारतवर्ष में राष्ट्रभाषा होना या बने रहना सम्भवनीय नहीं। राष्ट्र-भाषा तो हिन्दी ही हो सकती है।

किन्तु यह हुआ सामान्य सिद्धान्त, पर 'नर साँची करनी करे, तो नर का नारायण होय' इस तत्त्व के अनुसार प्रयत्न करने पर कोई भी बात अशक्य नहीं। पाश्चात्य संस्कृति और आर्य संस्कृति—इन दोनों के बीच की विषमता देखते हुए कोई यह नहीं कह सकता था कि भारतवर्ष में पाश्चात्य प्रजा का राज्य होगा, किन्तु हम आँखों देखते हैं कि आज वही सत्य हो गया। इसी तरह यदि हम सोते ही रहेंगे तो पुरुषार्थी अंग्रेज लोग कालान्तर में अंग्रेजी को केवल भारत की राष्ट्रभाषा ही नहीं, किन्तु देश की भी एक भाषा कर सकेंगे। यह मान लेने के लिए बहुत से प्रबल कारण पाए जाते हैं कि उनकी सचमुच यह अभिलाषा है भी। आज तक उनकी शिक्षा-नीति इसी दिशा में अपना काम कर रही है और वह सफल भी हुई है। ऐसे आनन्दोद्गार हाल ही में बड़े लाट साहब के मुख से जानते या अनजाते निकल पड़े हैं। वह तो यह भी सुख-स्वप्न देख रहे हैं कि थोड़े ही दिनों में अंग्रेजी हमारे घरों में घुस जाएगी।

अब यह विचार करना चाहिए कि आर्यों के वंशजों और आर्य-संस्कृति के अभिमानियों को ऐसा होने देना इष्ट है या नहीं? हम स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजी राज्य से हमें कुछ लाभ पहुँचा है। इसी तरह अंग्रेजी भाषा की उपयोगिता भी हमें मान्य है, परन्तु अपने धर्म के लिए, अपनी संस्कृति के लिए, अपने पूर्वजों के नाम के लिए और अपने वंशजों के ऐहिक और पारलौकिक कल्याण के लिए हम अपनी देशभाषा-मातृभाषा को छोड़ नहीं

सकते। हमारे राष्ट्र का प्राण—हमारी राष्ट्रीय-भाषा तो हिन्दू और मुसलमानों मे आज सैकडो वर्षों से अभेद भाव रखने वाली हिन्दी-भाषा ही होनी चाहिए। अंग्रेजी भाषा को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठाना अपनी सस्कृति को तिलाञ्जलि देने के समान है। हमारे एक भारी विद्वान की राय है कि सुशिक्षितो की सामान्य भाषा अंग्रेजी हो और अशिक्षितो की सामान्य भाषा हिन्दी। वे एक प्रौढ विद्वान् हैं और उनका विरोध करने योग्य शक्ति मुझमें नहीं, तो भी मुझे इतना स्पष्ट विदित होता है कि यह बात साधारण रीति से अशक्य है—और वह अशक्य है, यह परमेश्वर की बडी ही कृपा समझनी चाहिए। यदि सुशिक्षित और अशिक्षित की भाषाओं मे इतना भेद हुआ तो राष्ट्र का प्राण गया ही समझिए। यूरोप में श्रीमान् और निर्धन ऐसे भेद समाज में पड जाने से दोनों विभक्त हो गए। अतएव वहा के समाज में कैसे भयङ्कर उत्पात होते हैं, इसका वर्णन हम लोग पढते हैं। हमारे देश में सुशिक्षित और अशिक्षित क बीच में फूट होकर वह यहा तक पहुँच जाय कि हमारी—उनकी भाषा ही भिन्न हो जाए तो कितना भयङ्कर अनर्थ होगा ! इसकी कल्पना मात्र से रोमाञ्च हो जाते हैं। जिस समय सुशिक्षितपन सस्कृत भाषा के आश्रय मे रहा था, उस समय के सुशिक्षित विद्वान् समाज से भिन्न नहीं हो गए थे। वह अपनी सस्कृत को जन-समाज में अन्तिमान्तिम श्रेणी के मनुष्यो तक पहुँचा देते थे। अंग्रेजी द्वारा शिक्षा प्राप्त समाज आज ही प्रजा से विछुडा हुआ नजर आता है। फिर भाषा भेद हो [illegible] पर तो समाज का उच्छेद ही हो जायगा

[illegible]ओं की भाषा है और इसीलिए

अपनी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए, ऐसा कहने वाला भी एक दल सुशिक्षितों में है। ऐसी राय यदि अशिक्षित-दल की होती तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता, क्योंकि राजा तो राज्य का स्वामी है, उसकी इच्छा के अनुसार प्रजा को चलना चाहिए, यही इनकी भावना होती है, परन्तु शिक्षित दल तो जानता है कि राज्य प्रजा के हित के लिए है और राजा प्रजा-हित का सेवक है। सुशिक्षितों को तो उलटा यह करना चाहिए कि यदि राजा को अपने कर्तव्य का भली भांति पालन करना है तो उसे प्रजा की संस्कृति के साथ एकरूप होकर प्रजा ही की भाषा में बोलना चाहिए, प्रजा ही की भाषा में विचार करने चाहिए और प्रजा ही की भाषा में उसे स्वप्न देखने चाहिए। गुर्जराधिपति सयाजीराव ने इसी तत्त्व को समझ कर राष्ट्रभाषा को राज्य-भाषा बनाया। यदि आज बड़ौदा में फिर से मराठी राज्य भाषा हो जाए तो इसे कौन अच्छा कहेगा? इसी न्याय से सारे भारत वर्ष में देशी भाषा ही राज्य-भाषा होनी चाहिए, इस राय की पुष्टि हम क्यों न करें?

देशी भाषाओं में से ही एकाध राज्य-भाषा होनी चाहिए, इतना सिद्ध होने पर हिंदी का विशेष पक्षपात करने की विशेष आवश्यकता रह ही नहीं जाती। शक्याशक्य का विचार तो केवल सुशिक्षित ही करते हैं। जन समाज ने तो उस प्रश्न का निर्णय न जाने कब से कर रक्खा है। एक बात अभीष्ट मालूम हो जाने पर उसकी शक्यता का विचार करते हुए बैठे रहना तो कायरता है। ऐसे चिन्तवनों में कालयापन करना पौरुष-हीन लोगों का काम है। सारे भारतवर्ष में ईमानदारी

से द्वारपाल की नौकरी करने वाला भी सिद्ध करता है कि हिन्दी सार्वत्रिक भाषा हो सकती है। भारतवर्ष के अनेक पन्थों के साधुओं ने भी इस प्रश्न का निर्णय किया है। साधु चाहे बङ्गाली हो, चाहे मद्रासी, पर वह हिन्दी में ही बोलेगा। यात्रा करने वालों का अनुभव देखने से भी हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा मालूम होती है। कैलाश से रामेश्वर तक और द्वारिका से कामाक्षी तक हिन्दी से भली-भांति काम चल सकता है।

बहुतेरों का प्रश्न यह होता है कि यद्यपि भारतवर्ष में लोग अधिकांश हिन्दी जानते हैं, तो भी राष्ट्रभाषा के श्रेष्ठ पद को प्राप्त कर सकने के योग्य प्रौढ वाङ्मय उसमें कहां है? पर यह कहना भ्रमात्मक होगा कि हिन्दी का वाङ्मय प्रौढ़ नहीं। प्राकृतिक वर्णन करने वाली कविता लीजिए, शृंगार, वीर, करुणा, भक्ति या और कोई दूसरा रस लीजिए, उन सभी में संसार की किसी भी भाषा से हिन्दी पीछे नहीं पड़ सकती। जिस भाषा में तुलसीदासजी ने अपनी रामायण लिखी, जिस भाषा में कबीरदास जी ने भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया, जिस भाषा में विचार सागर जैसे वेदान्त-ग्रन्थ रचे गये, जिस भाषा में सूरदास का कविता-सागर उमड रहा है और जिस भाषा में भूषण कवि ने गो ब्राह्मण-प्रतिपालक शिवाजी के प्रताप का वर्णन किया, उसका वाङ्मय प्रौढ नहीं, यह कौन कहेगा? आधुनिक शास्त्रीय अनुसन्धानों की पुस्तकें हिन्दी में न हों और इतिहास तथा राजनीति की मीमांसा करने वाली पुस्तकें उसमें न हों, तो भी यह दोष उस भाषा का नहीं। हमारे मध्यकालीन जीवन का एकाङ्गीभाव ही इस स्थिति का उत्तरदायी है। हमारा जीवन

अपनी राष्ट्र-भाषा बना लेना चाहिए, ऐसा कहने वाला भी दल सुशिक्षितों में है। ऐसी राय यदि अशिक्षित-दल की होती; तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता, क्योंकि राजा तो राज्य का स्वामी है, उसकी इच्छा के अनुसार प्रजा को चलना चाहिए, यही उनकी भावना होती है, परन्तु शिक्षित दल तो जानता है कि राज्य प्रजा के हित के लिए है और राजा प्रजा-हित का सेवक है। सुशिक्षितों को तो उलटा यह कहना चाहिए कि यदि राजा को अपने कर्तव्य का भली भांति पालन करना है तो उसे प्रजा की संस्कृति के साथ एकरूप होकर प्रजा ही की भाषा में बोलना चाहिए, प्रजा ही की भाषा में विचार करने चाहिए और प्रजा ही की भाषा में उसे स्वप्न देखने चाहिए। गुर्जराधिपति सयाजीराव ने इसी तत्त्व को समझ कर राष्ट्रभाषा को राज्य-भाषा बनाया। यदि आज बड़ौदा में फिर से मराठी राज्य-भाषा हो जाए तो इसे कौन अच्छा कहेगा? इसी न्याय से सारे भारतवर्ष में देशी भाषा ही राज्य भाषा होनी चाहिए, इस राय की पुष्टि हम क्यों न करें?

देशी भाषाओं में से ही एकाध राज्य-भाषा होनी चाहिए, इतना सिद्ध होने पर हिंदी का विशेष पक्षपात करने की विशेष आवश्यकता रह ही नहीं जाती। शक्याशक्य का विचार तो केवल सुशिक्षित ही करते हैं। जन समाज ने तो इस प्रश्न का निर्णय न जाने कब से कर रक्खा है। एक बात अभीष्ट मालूम हो जाने पर उसकी शक्यता का विचार करते हुए बैठे रहना तो कायरता है। ऐसे चिन्तवनों में कालयापन करना पौरुष-हीन लोगों का काम है। सारे भारतवर्ष में ईमानदारी

भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा कौन सी होनी चाहिए, तो भी महाराष्ट्र के संस्थापकों ने महाराष्ट्र के लिए उसका निर्णय कर दिया है। शिवाजी ने हिन्दी नगरत्नों में से भूषण कवि को बुला कर उन्हें अपना राज्य-कवि बनाया और उन्हें कन्याकुमारी से हिमालय तक भेज कर हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान दिया है। और इसी से सातवलेकर, डिंकर सप्रे और मगारे पगड़कर, तामसकर, साठे और गर्दे जैसे मराठी और हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। और यह बात कोई आजकल की नहीं। नामदेव और तुकाराम आदि साधुओं ने भी हिन्दी में पद्य-रचना की है। दरजी जाति के महाराष्ट्रीय साधु नामदेव की हिन्दी कविता सिक्ख लोगों के पवित्र धर्म-ग्रन्थों में सम्मिलित की गई है।

गुजरात की ओर से मीराबाई, अखा न्याराम और दलपत राम आदि ने भी हिन्दी को अपना कर चुकाया है। और प्रेमानन्द के पहले गुजरात में ग्रन्थों की रचना भाषा (व्रज-भाषा) ही में हो, ऐसा माना जाता था। प्रेमानन्द के बाद गुजराती भाषा में काव्य-रचना होने लगी, तो भी हर एक प्राचीन कवि ने हिन्दी में भी लेखनी चलाई है।

यह सब तो हुई हिन्दी की सेवा। किन्तु चिरकाल से उपेक्षित और क्षीण हिन्दी को स्वाभिमान की अमृत-सजीवनी पिला कर उसमें नवजीवन का सञ्चार करा देने वाले धन्वन्तरि एक गुर्जर-पुत्र थे इस विचार से किस गुजराती को अभिमान उत्पन्न हुए बिना न रहेगा ? स्वामी दयानन्द जी ने हिन्दी को 'आर्यभाषा' का गौरवपूर्ण नाम देकर पञ्जाब जैसे पिछड़े प्रान्त में भी उसकी प्रतिष्ठा की है।

व्यापक हुआ नहीं कि हिन्दी भाषा भी देखते ही उस दिशा की ओर वेग से बढ़ी नहीं। जिस भाषा ने साहित्य के एक विभाग में अपनी सामर्थ्य, अपनी क्षमता और अपना उत्कर्ष प्रकट किया है, वह भाषा अन्य विभागों में लगड़ी रहेगी, यह संशय ही अयुक्त है।

आधुनिक साहित्य में हिन्दी कुछ पीछे है, तो भी एक तरह से वह पिछड़ना उसकी राष्ट्रभाषा होने की योग्यता को बढ़ाता है। उसे बङ्गाली, मराठी, और गुजराती आदि सभी प्रान्तों के लोग सुगमता से अपने अनुकूल बना कर सचमुच राष्ट्रभाषा बना सकें, ऐसी स्थिति स्थापक है। आज वही प्रयत्न चल रहा है। विद्वत्ता पूर्ण कितनी ही बगला पुस्तकें हिन्दी में अनूदित हो रही हैं। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रामकृष्ण परमहस, और रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि बगाली विद्वान और साधु-गण हिन्दी वेष धारण कर हमारे साथ भाषण करने लगे हैं। महाराष्ट्र के ज्ञानेश्वर और रामदास आदि हिन्दी में उपदेश करने लगे हैं। तिलक का 'गीता-रहस्य' महाराष्ट्र के साथ ही उत्तर भारतवर्ष को भी मिला है। सर देसाई के अनेक वर्षों के प्रयत्न का फल हिन्दी को एक ही अनुवाद में प्राप्त हुआ है। गुजरात की 'सरस्वती चन्द्र' जैसी पुस्तकें भी हिन्दी रूप धारण करके गुजरात के विद्वद्रत्नों की प्रतिभा का परिचय कराती हैं। पदीआर की पुस्तक के अनुवादों ने सामान्य हिन्दी मनुष्यों को स्वर्ग की कुञ्जी बतलाई है। महात्मा गाधी का 'आरोग्य विषयक सामान्य ज्ञान' हिन्दी वालों को भी सुलभ हो गया है।

यद्यपि इस प्रश्न की विशेष चर्चा महाराष्ट्र में नहीं हुई कि

अपनी मालूम होने वाली और इसी देश में जन्मी हुई हिन्दी में अपने हृदय के सभी तरह के उदात्त विचार और गूढ़ भाव प्रकट कर सकने का खूब प्रयत्न करना चाहिये। सब से पहली बात यह है कि हमारे अध्ययन क्रमों में हिन्दी का प्रवेश होना चाहिये। प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च शिक्षण में हिन्दी एक आवश्यक विषय माना जाना चाहिये। इसके बाद हर एक प्रान्तवासी को राष्ट्र की सेवा के लिये अपनी भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थों का भाषान्तर हिन्दी में करने का प्रयत्न करना चाहिए। जब अपनी भाषा में बोलना सम्भव न हो तब हर एक भारतवासी को अपना काम अंगरेजी की अपेक्षा हिन्दी में चलाने का निश्चय करना चाहिये। आज अखिल भारतीय प्रश्नों की चर्चा अंगरेजी में होती है, उसके बदले में यह साधारण जन समाज की समझ में आने योग्य हिन्दी में करनी चाहिये। उदाहरणार्थ—काशी का हिन्दू विश्व-विद्यालय, गोखले का भारत-सेवक-समाज, बंगलौर स्थित ताता का शास्त्र-संशोधक विद्यापीठ, भारतवर्षीय महिला विद्यापीठ, सकल धर्म परिषद् और राष्ट्रीय सभा आदि आदि। प्रान्तीय शिक्षा के लिये स्थापित संस्थाएं प्रान्तीय भाषाओं में ही शिक्षा दें, परन्तु अति उच्च शिक्षण के लिये स्थापित एवं भारतीय संस्थाओं में शिक्षा हिन्दी में ही दी जानी चाहिये। हमारे मुसलमान और ईसाई भाइयों के हित के लिये यदि कुरान और बाइबल के अत्यन्त सरल अनुवाद हिन्दी भाषा में शीघ्रता से हो जायँ तो कैसा अच्छा हो ?

इतना कर लेने के बाद हम सरकार से भी प्रान्तीय शासन-कार्य में प्रान्तीय भाषा और देश के सामान्य राज्य कार्य में हिन्दी

इस तरह गुजराती, दक्षिणी और बंगाली लोगों ने हिन्दी को अपना-कर उसकी सेवा की है। अतएव उसका प्रान्तीयत्व नष्ट हो गया और शब्द प्राचुर्य के सम्बन्ध में, वाक्य रचना की विविधता में और विवेचन पद्धति के सौष्ठव में वह गम्भीर, ललित, विपुलार्थ-वाहिनी और राष्ट्रीय बनती जाती है। इसी से आज एक महाराष्ट्रीय नाटक मण्डली कलकत्ते में जाकर हिन्दी भाषा में नाटक करके बङ्गाली रसिकों का मनोरञ्जन कर सकती है।

जिस तरह नदियाँ पर्वत से धो धो शब्द कर बहती हुई अपनी गोद के बच्चों (टीलों) को खूब दूध (पानी) पिलाती हुई अपना जल महासागर को अर्पण करती हैं, उसी तरह आज किसी भी हिन्दुस्तानी भाषा का उत्तम ग्रन्थ हो हिन्दी में उसका भाषान्तर तत्काल हो जाता है। एक ही ग्रन्थ के गुजराती, मराठी और बंगाली—तीन स्वतन्त्र भाषान्तर सम्मुख रखकर जब हिन्दी लेखक उसका हिन्दी में अनुवाद करता है तब मूल लेखक का रहस्य द्राक्षापाक के समान प्रकट होता है।

इसलिये कौन सी भाषा हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है, अथवा हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा होने के योग्य है या नहीं आदि कायरता को भड़का देने वाली अनन्त शंकाओं से सिरपच्ची न करके हमें इसी का विचार मुख्यतः करना चाहिये कि हिन्दी-भाषा का प्रसार राष्ट्रभाषा के रूप में शीघ्रता से कैसे हो। थोड़ी बहुत हिन्दी तो हम सब समझते हैं, किन्तु आज की परिस्थिति को ध्यान में रखकर हिन्दुस्तान के भिन्न भिन्न प्रान्तों के साथ व्यवहार बढ़ाकर राष्ट्र सगठन को अधिक दृढ़ बनाने वाली वाङ्मय की वारिस, हिन्दू-मुसलमानों को एक-समान

धर्म और सुख

कभी कभी ऐसा देखने में आता है कि अच्छा परिवार, धन-सम्पति, भाई बन्धु और मित्र सभी मिलकर भी हमें यथेष्ट सुख नहीं पहुँचा सकते। ऐसी दशा में हम धर्म्म का द्वार खटखटाते हैं। मनुष्य दो प्रकार के जगत् में रहता है। भौतिक तथा आध्यात्मिक। भौतिक जगत् में उसका सम्बन्ध दृश्यमान प्राणियों से रहता है। परन्तु आध्यात्मिक जगत् में उसका सम्बन्ध उस अदृश्य शक्ति से रहता है जो सर्वत्र ओत प्रोत हो रही है और जिसकी प्रेरणा हम अन्तरात्मा में अनुभव करते हैं। इस शक्ति को लोग प्रभु, परमात्मा, ईश्वर इत्यादि नामों से याद करते हैं। भौतिक जगत् में यदि हमारी अनुकूलता हो भी जावे तो भी जब तक आध्यात्मिक जगत् में हमारा प्रवेश नहीं होता तब तक हमारे सुख की राशि परिपूर्ण नहीं होती। बाहरी परिस्थिति के साथ साथ अन्दर की परिस्थिति भी हमारे अनुकूल होनी चाहिए।

जब अन्तर्ध्यान होकर हम अपने हृदय का अवलोकन करते हैं तो हमें अपने भाव, विचार, सकल्प, इच्छा, अभिलाषा कार्य्य-क्षमता उद्योग और ज्ञान आदि मन मानसिक व्यापारों में एक अवधि या सीमा दिखाई देती है। उस अवधि का जब हमें साक्षात् बोध होता है तो हमारे मन में निराशा पैदा होती है और हमारा उत्कर्ष रुक जाता है।

प्रचलित करने के लिये प्रार्थना करके उसे ऐसा करने के लिये मजबूर कर सकते हैं। महकमे जङ्गलात में, वैद्यक विभाग में, पुरातत्त्व विभाग में अथवा वातावरण विभाग में हिन्दुस्तान के द्रव्य से जो भी शोध होता है, वह सब हिन्दुस्तान के किसानों और व्यापारियों के उपयोग के लिये सरकार को हिन्दी ही में छपानी चाहिये। इस तरह का आग्रह हम कर सकते हैं, पर इसके लिये मुस्तैदी के साथ प्रयत्न होने चाहियें। हाथ जोड़ कर 'यह कैसे होगा' यह कह कर बैठे रहने से काम न चलेगा। करने से सब कुछ हो सकता है, प्रयत्न करने पर यश मिले बिना नहीं रह सकता।

—काका कालेलकर

आडम्बर बनाकर वह कई प्रकार के धार्मिक कृत्य करता है। परन्तु उसके जीवन की गाडी टस से मस नहीं होती, जहाँ की तहाँ रहती है। ज्यों ज्यों वह अधिक पाठ करता है त्यों त्यों उसके हृदय की अशान्ति बढ़ती है। यह क्यों? इसलिये कि उसको आन्तरिक बोध नहीं हुआ। उसको अपनी अल्पज्ञता का अनुभव नहीं हुआ। उसे हृदय का परिवर्तन प्राप्त नहीं हुआ। धर्म का, धार्मिक जीवन का उदय उसी परिवर्तन के पीछे होता है।

धर्म को लोगों ने धोखे की टट्टी बना रखा है। वे उसकी आड में स्वार्थ सिद्ध करते हैं। बात यह है कि लोग धर्म को छोड सम्प्रदाय के जाल में फँस रहे हैं। सम्प्रदाय बाह्य कृत्यों पर जोर देते हैं। वे चिह्नों को अपना कर धर्म के सार और तत्त्व को मसल देते हैं। धर्म मनुष्य को अन्तर्मुखी बनाता है। उसके हृदय के किवाडों को खोलता है। उसकी आत्मा को विशाल, मन को उदार तथा चरित्र को उन्नत बनाता है। सम्प्रदाय संकीर्णता सिखाते हैं। जात पात, रूप रंग तथा ऊँच-नीच के भेदों से मनुष्य को ऊपर नहीं उठने देते। वस्तुत प्रत्येक सम्प्रदाय धर्म का शत्रु है, धर्म प्रवृत्ति का घातक है।

धर्म चरित्र संगठन पर बल देता है, सम्प्रदाय सिद्धान्तों की तार्किक सिद्धि पर। तर्क का स्थान मानसिक शक्तियों के विकास मे मानना पडता है। परन्तु वह तर्क क्या, जिसने चरित्र की गाडी को रोक रखा हो। हमें जीना है, अच्छी तरह से जीना है। सुखपूर्वक जीना है। इसके लिए यदि धर्म साधन हो सकता है तो उसे क्यों न धारण करें? लोग धर्म्म को तिलाञ्जलि इसलिए देते हैं कि वे धर्म्म को जीवन-सुख का साधन नहीं बनाते। वे

अपनी सीमाओं के साक्षात् बोध से हमारा गर्व दूर है। जिन बाह्य पदार्थों पर हमें नाज़ था वे सब अब हमें नज़र आते हैं। हमारा दृष्टिकोण बदल जाता है। बाहर से हट कर हमारी आँखें भीतर की ओर जाने लगती हैं। अल्पज्ञ सर्वज्ञ की तलाश करता है। सीमा-युक्त आत्मा असीम परमात्मा की ओर बढ़ता है। इसी को धर्म का उदय तथा धार्मिक जीवन का जागरण कहते हैं। यह जागरण जब आत्मा में पैदा होता है तो कभी कभी इसका प्रभाव इतना गहरा होता है कि उद्बुद्ध आत्मा को पहचानना कठिन हो जाता है। वाल्मीकि जैसे प्रसिद्ध डाकू इसके प्रभाव से महात्मा बन जाते हैं। उनका व्यक्तित्व सर्वांश में बदल जाता है। उनका नरक स्वर्ग में परिणत हो जाता है।

धर्म का स्थान हृदय है। जहाँ अल्पज्ञ का सर्वज्ञ के साथ मेल होता है, वहाँ मनुष्य को अपनी अगाध लालसा के कारण एक ऐसी शक्ति का सहवास प्राप्त होता है जो सदैव उसको आत्मोत्कर्ष का मार्ग दिखाती है और जो सदा उसे परोपकार में प्रवृत्त करती है। जब बाहर की परिस्थिति, भाई, बन्धु, मित्र, धन, सम्पत्ति, सब उसको जवाब दे बैठते हैं तब भी वह अन्दर की (सर्वत्र व्यापक) सत्ता उसका साथ नहीं छोड़ती। उसका उत्साह बनाए रखती है। उसके लिए निरन्तर उन्नति का मार्ग खोल देती है।

धर्म इसी आन्तरिक अनुभव का नाम है। जब तक आत्मा को परमात्मा का बोध नहीं होता तब तक वह ठोकरें खाता है, भटकता है, सर-गरदान रहता है। मन्दिर, मस्जिद और गिर्जे में—एक बार नहीं, अनेक बार—सिर झुका, मस्तिष्क घिसा धर्म-पुस्तकों का पाठ करता रहता है। नित्य नये स्वाँग रचकर, नित्य

उसके पास नहीं फटकता। तो फिर चिन्ता का क्या काम? धर्मात्मा मनुष्य इस बात को सिद्धान्तरूपेण स्वीकार कर लेता है कि कर्म करना मेरा धर्म है, कर्म पर मेरा अधिकार है। परन्तु कर्म के फल पर अपना अधिकार नहीं। फल अपने हाथ की बात नहीं, अत उसके सम्बध मे चिन्ता व्यर्थ है। धर्म्म और चिन्ता दोनों साथ साथ नहीं रह सकते।

धर्मात्मा व्यक्ति जहा जायगा प्रसन्नता का सन्देश साथ ले जाएगा। प्रसन्नता से स्वास्थ्य की उपलब्धि होती है। क्या तुम नहीं जानते कि कई मनुष्यों की सङ्गति मे हम अपने आपको क्रमश उन्नत होते हुए अनुभव करते हैं? उनके देखने मात्र से हमारा चेहरा खिल जाता है। हमारा रक्त बढ़ जाता है। विपरीत इसके कई मनुष्य ऐसे भी होते है जिनके चेहरे पर साक्षात् श्मशान-भूमि का दृश्य दिखलाई देता है। जिनकी उपस्थिति मे हमारे चेहरे कुम्हला जाते हैं। और बातचीत से तो ईश्वर दया करे, हमारे हृदय एकदम बैठ जाते हैं। पहली कोटि क मनुष्यों को हम धर्मात्मा कहेंगे, चाहे वे मस्जिद, मन्दिर और गिरजे में न जाने वाले हो। दूसरी कोटि के मनुष्यों को हम धर्मात्मा नहीं कह सकते, चाहे दिन रात वे मन्त्र-जाप क्यों न करें।

धर्म और मुर्दनी दो विरोधी बाते हैं। धार्मिक जीवन हमारे असन्तोष को दूर करता है। साधारणतया मनुष्यों के हृदय असन्तोष की अग्नि मे सतप्त रहते हैं। जब हम एक अच्छे व्याख्याता का भाषण सुनते हैं तो हममें एक व्याख्याता बनने की चाह उत्पन्न होती है। जब एक प्रसिद्ध पहलवान को देखते हैं तो पहलवान के

इसे आडम्बर-रचना का रूप दे कर सुख से कोसों दूर रहते हैं।

धर्म जब मनुष्य के हृदय में उदय होता है तो उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। सेवा, सहायता तथा परोपकार में उसका मन लगता है। दूसरों की सुख-वृद्धि में उसे आनन्द आता है। जीवन को वह कर्म प्रधान बना लेता है। ज्ञान से विमुख नहीं होता, अपितु ज्ञान और कर्म दोनों के सम्पर्क द्वारा धार्मिक-जीवन की सिद्धि प्राप्त करता है। कर्म शून्य ज्ञान और ज्ञान-शून्य कर्म ही सच्चे धर्म में बाधक होते हैं। परन्तु ज्ञान और कर्म का मिलाप जिस जीवन में हो जाता है उसमें सुखों की गंगा बहने लगती है।

ज्ञान और कर्म का संयोग मनुष्य के भीतर उपासना का भाव उत्पन्न करता है, मनुष्य ईश्वर के निकट पहुँचता है, भक्ति की लालसा जागृत हो जाती है, हृदय प्रेमरस से पूर्ण हो जाता है। आत्मा और परमात्मा का सहवास, सहचार तथा घनिष्ठ ओत प्रोत-भाव अनुभव होने लगता है। भक्त अपने पराये का भेद भूल जाता है। सर्वत्र भ्रातृत्व के भाव को देखता है। सारा ब्रह्माण्ड उसे एकता के सूत्र में पिरोया हुआ दीखता है। विश्व-प्रेम से उसका हृदय भर जाता है। यही विश्व प्रेम धर्म का उन्नत तथा उज्वल स्वरूप है।

धर्म की ही सहायता से मनुष्य अपने भीतर और बाहर की परिस्थिति में अनुकूलता, समता तथा निर्वैरी भाव उत्पन्न करता है। उसका मन, शरीर और बुद्धि उज्ज्वल हो जाते हैं। जहाँ साधारण व्यक्ति घबरा उठते हैं वहाँ धर्मात्मा मुस्कराता हुआ अपनी प्रसन्नता का सबूत देता है, चिन्ता उसके निकट नहीं आती। जो बात करने योग्य है उसे वह करता है, जो त्याज्य है

समस्याएं हल हो जाती हैं। जातियों के कितने बडे बडे झगडे मिट जाते हैं। आज ससार में जो अशान्ति फैल रही है और जिसके कारण राष्ट्र बेबस दीखते हैं वह इसीलिए है कि कानूनी कार्यवाही द्वारा मनुष्यों के हृदय को बदलने की कोशिश की जाती है। कानून और दण्ड से वह फल प्राप्त नहीं होते जो धार्मिक प्रचार से सिद्ध होते हैं। जो कार्य्य तोपें, बन्दूकें, फौजें, लडाई के जहाज और वायुयान नहीं कर सकते, उसे धर्म-प्रचार तथा उपदेश कर देता है। धर्म्म मनुष्यों के हृदयों को प्रेम के सूत्र में बांधने का प्रयत्न करता है। अन्तर्जातीय समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म्म तथा धार्मिक जीवन की बडी आवश्यकता है।

धार्मिक व्यक्ति की सबसे बडी पहचान यह है कि वह अपना आधार बाह्य ससार से उठाकर ईश्वर पर छोडता है। उसका जीवन ईश्वर-आश्रित बनता है। जिस प्रकार एक बालक अपनी माता की गोद में जाकर ससार का सब भय भुला देता है और हर प्रकार से परितुष्ट और तृप्त हो जाता है, इसी प्रकार एक धर्मात्मा व्यक्ति ईश्वर का आश्रय पाकर ससार की सब विरोधी शक्तियों से निर्भय हो जाता है। तब वह याचना का हाथ प्रभु के आगे पसारता है। उसका मागना उसकी अपनी हृदय की पुकार के द्वारा होता है। बनावटी प्रार्थना से उसका जी नहीं भरता, वह अपनी सरलता से जो चाहता है, मागता है। मानो बच्चा अपने पिता के सामने खडा हाथ जोडे वे चीजें माग रहा है जो उसके पिता के पास मौजूद हैं। और जिनको वह बच्चा देख रहा है और हाथ बढा उनकी ओर निर्देश कर रहा है।

"तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।

समान हृष्ट पुष्ट बनने की अभिलाषा होती है। जब वायु-यान को उड़ाते किसी को देख लेते हैं तो वायु-यान चलाने वाला बनना चाहते हैं। इसी प्रकार जब पास से गुजरती हुई सेना के आगे सुसज्जित सेनापति को घोड़े पर सवार देखते हैं तो सेनानायक बनने का जी ललचाता है। यहीं तक नहीं हर समय जो विलक्षणता अथवा नवीनता हमारे सामने आती है हमारे मन में असन्तोष की लहर उत्पन्न कर जाती है। हम यह नहीं सोचते कि एक ही शरीर मे विद्वान्, व्याख्याता, पहलवान वायुयान चलाने वाला तथा सेना नायक कैसे रह सकते हैं। अत इस प्रकार का असन्तोष व्यर्थ है। धार्मिक जीवन ऐसे असन्तोष का निराकरण करता है, परस्पर विरोधी भावों को मन से हटा देता है और एक लक्ष्य मे मनुष्य को स्थिर बना कर उसकी सब शक्तियों को उसी लक्ष्य की प्राप्ति में लगा देता है।

धार्मिक जीवन का निर्माण करने वाला सब से बडा अङ्ग ईश्वर विश्वास है। विश्व प्रेम, विश्व भ्रातृत्व तथा समान-सेवा और सहायता के भाव ईश्वर-विश्वास द्वारा ही सिद्ध होते हैं। राष्ट्र भी इन भावों की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु राष्ट्र-नियम बाह्य रूप से ही मनुष्यों को आदेश देते हैं, धर्म हृदय के अन्तर्गत होकर परिवर्तन पैदा करता है। राष्ट्र नियम दण्ड के जोर से व्यक्तियों को हाँकता है, धर्म प्रेम, सहानुभूति, सौजन्य के शस्त्रों का प्रयोग करता है। इसीलिए धर्म का मार्ग सुधार के लिए अधिक उपयुक्त माना गया है। धर्म मनुष्य के हृदय मे प्रेरणा करता है "लालच छोड़ो" "ईर्ष्या द्वेष छोड़ो"। इनके छोड़ने से ससार म कितनी बडी बडी सम-

समस्याएं हल हो जाती हैं। जातियों के कितने बडे बडे झगडे मिट जाते हैं। आज ससार मे जो अशान्ति फैल रही है और जिसक कारण राष्ट्र बेनस दीखते हैं वह इसीलिए हैं कि कानूनी कार्यवाही द्वारा मनुष्यों के हृदय को बदलने की कोशिश की जाती है। कानून और दण्ड से वह फल प्राप्त नहीं होते जो धार्मिक प्रचार से सिद्ध होते हैं। जो कार्य्य तोपे, बन्दूकें, फौजे, लडाई के जहाज और वायुयान नहीं कर सकते, उसे धर्म प्रचार तथा उपदेश कर देता है। धर्म्म मनुष्यों के हृदयों को प्रेम के सूत्र में बाधने का प्रयत्न करता है। अतर्जातीय समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म्म तथा धार्मिक जीवन की बडी आवश्यकता है।

धार्मिक व्यक्ति की सबसे बडी पहचान यह है कि वह अपना आधार बाह्य ससार से उठाकर ईश्वर पर छोडता है। उसका जीवन ईश्वर-आश्रित बनता है। जिस प्रकार एक बालक अपनी माता की गोद में जाकर ससार का सब भय भुला देता है और हर प्रकार से परितुष्ट और तृप्त हो जाता है, इसी प्रकार एक धर्मात्मा व्यक्ति ईश्वर का आश्रय पाकर ससार की सब विरोधी शक्तियों से निर्भय हो जाता है। तब वह याचना का हाथ प्रभु के आगे पसारता है। उसका मागना उसकी अपनी हृदय की पुकार के द्वारा होता है। बनावटी प्रार्थना से उसका जी नहीं भरता, वह अपनी सरलता से जो चाहता है, मागता है। मानो बच्चा अपने पिता के सामने खडा हाथ जोडे वे चीजें माग रहा है जो उसके पिता के पास मौजूद हैं। और जिनको वह बच्चा देख रहा है और हाथ बढा उनकी ओर निर्देश कर रहा है।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।

बलमसि बल मयि धेहि। आजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्यु मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृत गमय।

इस प्रकार ईश्वर को सब गुणों और शक्तियों का भण्डार मान कर मनुष्य जब उसी को अपना जीवनाधार बना लेता है तो उसका भटकना बंद हो जाता है। भटकना बंद होजाने से उसके दुःख मिट जाते हैं। वह अपने आपको मनुष्य-मात्र की सेवा में लगा देता है। उसका जीवनध्येय उसे प्राप्त हो जाता है।

—सुधाकर १९२९

(५)

मित्रता

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकल कर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहिली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकान्त और निराली नहीं रहती है तो उसकी जान पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका मेल जोल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जब कि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिए बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं, क्योंकि हमें उनकी हरएक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी बात को ऊपर रखते हैं, क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिए कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस

रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्राय बहुत कम होता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता, पर युवा पुरुष प्राय विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोष को कितना परख कर लेते हैं, पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसन्धान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही मान कर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढंग थोड़ी चतुराई वा साहस—यह ही दो चार बातें किसी में देख कर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है, तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। ये बातें हमें नहीं सूझतीं कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्म शिक्षा का कार्य्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—"विश्वासपात्र मित्र में बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाए उसे समझना चाहिए कि खजाना मिल गया।' विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषधि है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम सकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे, साराश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की सी निपुणता और परख होती है, अच्छी

से अच्छी माता का सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमडी पड़ती है। पीछे के जो स्नेह-बन्धन होते हैं उनमें न तो उतनी उमग रहती है न उतनी चिन्ता। बाल मैत्री में जो मग्न करने वाला आनन्द होता है, जो हृदय को बेधने वाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है, वह और कहा? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है, कैसा अपार विश्वास होता है! हृदय के कैसे कैसे उद्गार निकलते हैं! वर्तमान कैसा आनन्दमय दिखाई पडता है और भविष्य के सम्बन्ध में कैसी लुभाने वाली कल्पनाए मन में रहती हैं। कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना मनाना होता है! 'सहपाठी की मित्रता' इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल पुथल का भाव भरा हुआ है। किंतु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ, शान्त और गम्भीर होती है उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन के झंझटों में चलता नहीं। सुदर प्रतिमा, मनभावनी चाल और स्वच्छन्द प्रकृति ये ही दो चार बातें देख कर मित्रता की जाती है, पर जीवन सग्राम में साथ देने वाले मित्रों में इनसे कुछ अधिक बातें चाहिए। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जाए पर भीतर ही

भीतर घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथप्रदर्शक के समान चाहिए जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें, भाई के होना चाहिए जिसे हम अपना प्रीतिपात्र बना सकें। और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों या एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता आवश्यक और वाञ्छनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शान्त प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हममें नहीं हम चाहते हैं कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिन्ताशील मनुष्य प्रफुल्ल चित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षा वाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिए चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति विशारद अकबर मन बहलाने के लिए बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्त्तव्य इस प्रकार बताया गया है—"उच्च और

महाकार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना, और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढचित्त और सत्य सकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकडा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों। मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हो। जिसमें हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा।

जो बात ऊपर मित्रों के सम्बन्ध में कही गई है, वही जान-पहचान वालों के सम्बन्ध में भी ठीक है। जान पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोडा है, उसमें खोने के लिए समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिए कुछ नहीं कर सकते हैं, न कोई बुद्धिमानी या विनोद की बात-चीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढारस बंधा सकते हैं, न आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखे। हमें अपने चारों ओर जड़-मूर्तियां सजाना नहीं है। आजकल जान पहिचान बढाना कोई बडी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर

देखने जायगे, नाच-रग में जायगे, सैर-सपाटे में जायगे, भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करगे। यदि ऐसे जान पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बडी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी सख्या दुर्भाग्यवश आज बहुत बढ रही है, यदि शोहदा मे से निकलें जो अमीरों की बुराइया और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन रात बनावसिंगार में रहा करते हैं, महफिलो में 'ओ हो हो' 'वाह वाह' किया करते हैं, गलियों मे ठट्ठा मारते और सिगरेट का धुआँ उडाते चलते हैं। ऐसे नवयुवको से बढकर शून्य, नि सार और शोचनीय जीवन किसका है? वे अच्छी बातो के सच्चे आनद से कोसों दूर हैं। उनके लिए न तो ससार मे सुन्दर और मनोहर उक्ति वाले कवि हुए हैं और न सुन्दर आचरण वाले महात्मा हुए हैं। उनके लिये न तो बडे बडे वीर अद्भुत कर्म कर गए हैं और न बडे-बडे ग्रन्थकार ऐसे विचार छोड गए हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय म सात्विकता की उमगे उठती हैं। उनके लिए फूल पत्तिया मे कोइ सौन्दर्य नहीं झरनों क कलकल मे मधुर सगीत नहा, अनन्त सागर-तरगों मे गम्भीर रहस्यो का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शान्ति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय विषयों मे ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशाओं और कुत्सित विचारो से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन दिन अंधकार म पतित होते देख कौन

ऐसा होगा जो तरस न खायगा ? जिसने सुसंस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिये।

कुसंग का ज्वर सब से भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी तो वह उसके पैरों में बंधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन दिन अवनति के गड्ढे में गिराती जायगी, और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरन्तर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इंगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली। इस पर जिंदगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहां वह बुरे लोगों की संगत में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है, क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहियें, चित्त पर ऐसे ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिन तक टिकती हैं। इस बात को प्राय सब लोग जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी या फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गम्भीर या अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझ से कहा कि उसने लड़कपन में कहीं से एक बुरी

कहावत सुन पाई थी, जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि न आवे, पर बार बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते, वे बार बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा, अथवा तुम्हारे चरित्र-बल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकने वाले आगे चल कर आप सुधर जायँगे। नहीं ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे धीरे उन बुरी बातों से अभ्यस्त होते होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुण्ठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायगी। अन्त में होते होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सब से अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

"काजल की कोठरी में कैसोहू सयानो जाय,
एक लीक काजल की लागि है पै लागि है।"

—रामचन्द्र शुक्ल

(६)

सौन्दर्य

प्रकृति की लीला विचित्र है। उसके गूढ रहस्यों का उद्घाटन करना तथा विकट उलझनों को सुलझाना मानवी शक्ति से परे है। अनेक स्थलों में हमको केवल कल्पना के आश्रित होना पडता है। सौन्दर्य भी एक ऐसा ही जटिल विषय है। कहने को तो हम वस्तुओं को सुन्दर अथवा कुरूप कह जाते हैं, परन्तु हम में से अधिकाश इस बात से अनभिज्ञ है कि सुन्दरता की कुञ्जी स्वय हमारे हृदय में ही है। यह कुञ्जी हमारे ही मस्तिष्क के साँचे में ढली है, अतएव प्रत्येक ताले को खोलने के लिये उपयुक्त नहीं है। दूसरों को सुन्दर प्रतीत होने वाली वस्तुए हमको भी सदा वसी नहीं प्रतीत होतीं। ऐसा क्यों होता है ? तथा सुन्दर वस्तुओं की ओर हमारा चित्त स्वत ही क्यों आकर्षित होने लगता है ? इन्हीं विषयों की मीमासा करने के अभिप्राय से, हमने प्रस्तुत लेख में, सौन्दर्य की परिभाषा एव परिपाटी की कुछ मनोवैज्ञानिक व्याख्या पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा की है।

इन्द्रधनुष सुन्दर है, वीणानिनाद सुन्दर है, अरुणोदय की लाली से सयुक्त उषाकाल भी सुन्दर है, ऐसा क्यों है ? इन्द्र-धनुष नयनाभिराम है, वीणा की झङ्कार कर्णेन्द्रियों को रुचिकर है एव प्रभात का समय हृदय का समुत्फुल्लकारी है। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तुओं की सुन्दरता हमारी ज्ञानेन्द्रियों के

अनुभव पर ही निर्भर है प्रत्येक सुन्दर वस्तु किसी न किसी ज्ञानेन्द्रिय को एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान कर अन्त में हृदय के आह्लाद का कारण होती है। किन्तु सुन्दरता का यह सिद्धान्त गणित के सिद्धान्तों की भांति विश्वव्यापी एवं अपरिवर्तनशील नहीं है। सुन्दरता मानसिक विषय है अर्थात् इसकी कसौटी मस्तिष्क है। भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्यों के मस्तिष्क का गठन भिन्न भिन्न प्रकार का होना अनिवार्य है, अतएव सौन्दर्य की कसौटी एक सी न होने के कारण 'अमुक वस्तु सब को प्रिय है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। सौन्दर्य किसी वस्तु विशेष का अन्तर्हित गुण नहीं है वह तो हमारा किसी वस्तु को विचार में लाने का प्रकार मात्र है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सुन्दरता कोई ऐसी कार्यकारिणी शक्ति नहीं है जो प्रत्येक हृदय पटल पर प्रभाव उत्पन्न कर सके, वरञ्च यह तो स्वयं हमारी कार्यकारिणी एवं कल्पना-मूलक विचारशक्ति का परिणाम है। सुन्दर वस्तुओं के अवलोकन से भावुकों के हृदय में विकार अवश्य उत्पन्न होता है, परन्तु इस विकार का सञ्चालन तथा उसकी रचना पूर्णतया मस्तिष्क के ही अधीन है।

व्यक्तित्व, देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार सौन्दर्य का आदर्श भी बदलता रहता है। एक वस्तु यदि किसी को प्रिय है तो दूसरे को अप्रिय। इन्द्रधनुष, वीणा-वाद्य तथा उषाकाल सब को ही सुन्दर नहीं प्रतीत होते। ग्रीस के कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित पत्थर की मूर्तियां, सुप्रसिद्ध चित्रकार रविवर्मा की अत्युत्कृष्ट चित्रकारी अथवा शरत्पूर्णिमा की ज्योत्स्नामयी रात्रि में सुधांशु की पीयूषवर्षिणी कलाओं से शुभ्र स्फटिक के समान

दीप्तिमान ताजमहल, एक नीरस हृदय मे सौन्दर्यानुभव की तरङ्ग नहीं उत्पन्न कर सकते। इसका कारण यह नहीं कि उस व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियाँ निश्चेष्ट हैं, वरन यह कहना चाहिए कि उसका मस्तिष्क इन वस्तुओं एवं कतिपय आदर्श-कल्पनाओं के सम्बन्ध निर्धारित करने मे असमर्थ है। इन्हीं वस्तुओं को एक बुद्धिमान् कल्पना के सूत्र मे आबद्धकर हृदय का हार बना लेता है।

सगीत के विषय में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। श्रीयुत विष्णु दिगम्बर जैसे सङ्गीत कलाविद् का गान भी बहुतेरों को कर्णकटु प्रतीत होता है। इसमें उनकी कर्णेन्द्रियों का कोई दोष नहीं है। हमारे देश की भील, सन्थाल इत्यादि जगली जातियों में प्रचलित राग सुशिक्षित सङ्गीतानुरागियों को अवश्य अरुचिकर होंगे। पर सम्भव है कि जिस गान का श्रवणामृत पान कर आधुनिक श्रोता मन्त्र-मुग्ध हो जाते हैं वही कालान्तर में जङ्गली की उपाधि से विभूषित कर दिया जाए। अस्तु—

इससे सिद्ध हुआ कि सौन्दर्य वस्तुओं का ऐसा गुण नहीं है जो अन्तरङ्ग एवं स्थायी हो। सुन्दरता केवल एक मुद्रा है, जो द्रष्टा अथवा श्रोता अपनी इच्छानुसार वस्तु पर अङ्कित कर देता है। हमने अपने हृदय मे जो आदर्श स्थापित कर लिया है, उससे सामञ्जस्य रखने वाली प्रत्येक वस्तु हमे सुन्दर भासित होती है। अर्थात् कल्पित तथा समक्ष उपस्थित वस्तुओं का एकीकरण ही हमारा सौन्दर्य-विज्ञान है। इसी एकीकरण के अभाव से हम अनेक वस्तुओं को उदासीनता तथा घृणा की दृष्टि से देखने को बाध्य हो जाते हैं। कभी कभी ऐसा भी होता है कि बाल्यावस्था मे हम जिन वस्तुओं की ओर आकर्षित होते हैं वे ही कालान्तर

मे हमें अप्रात हो जाती हैं। इसी प्रकार युवावस्था में साधारण दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुएं प्रौढावस्था में सुन्दर प्रतीत होने लगती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी प्रियता या झुकाव विभिन्न वस्तुओं का अर्पण होता रहता है। जाति, देश, काल इत्यादि व्यक्तियों के ही रुचि के अधीन हैं, अतएव इनमें भी सौन्दर्यादर्श तदनुरूप परिवर्तित होता रहता है। उदाहरणार्थ अफ्रीका के हबशी इस सम्बन्ध में जैसी अभिरुचि रखते हैं, इस से सभ्य देशवासी कदापि सहमत नहीं हो सकते।

उपर्युक्त प्रमाणों पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि सुन्दरता का निश्चित रूप न तो कोई है, और न हो सकता है। मनुष्य की मानसिक शक्ति अपरिमित एवं अस्थिर होने के कारण, सौन्दर्य का आदर्श किसी नियम अथवा सिद्धान्त के अन्तर्गत नहीं हो सकता। हम सांसारिक तथा काल्पनिक पदार्थों की तुलना कर, दोनों में निकटतम सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा किया करते हैं। मानसिक विकास के साथ साथ कल्पना क्षेत्र भी विस्तीर्ण एवं परिमार्जित होता जाता है, अतएव पूर्व निर्धारित सम्बन्ध कुछ समय में विच्छृङ्खल हो जाते हैं। दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाने के कारण वस्तुएं नवीन रूप में दिखलाई पड़ने लगती हैं। फल यह होता है कि पूर्वोक्त प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने के लिए पुनः नूतन वस्तुओं की ओर चित्त का झुकाव होता है। एवं सौन्दर्यादर्श नित्य इसी प्रकार स्थानान्तरित होता रहता है। यदि हम एक वायुयान में बैठकर अथवा अन्य किसी प्रकार ऊँचे उठने लगते हैं, तो क्रमशः नीचे की वस्तुएं हमारी दृष्टि से पतित होती जाती हैं, तथा ऊपर की वस्तुएं हमारा ध्यान आकृष्ट

करने लगती हैं। इसी प्रकार शिक्षा के प्रभाव से आदर्श का तल समुन्नत हो जाने के कारण जो वस्तुएं पहले सुन्दर प्रतीत होती थीं वे हेय हो जाती हैं, तथा जो वस्तुएं पहले हृदयग्राही नहीं थीं उनमें ही, अब अनेक सूक्ष्मताएं दृष्टि पड़ने से, सौन्दर्य के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। जलवायु, परिस्थिति, आचार व्यवहार, शिक्षा इत्यादि के कारण विभिन्न जाति के मनुष्यों की प्रवृत्तियां भी भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं, अतएव जैसी वस्तुएं एक जाति को प्रिय हों वैसी अन्य देश वासियों को बहुधा साधारण अथवा अप्रिय प्रतीत होती हैं।

यह बात अनेक उदाहरणों द्वारा सिद्ध की जा सकती है कि वास्तव में सौंदर्य केवल एक मानसिक धर्म है, किसी वस्तु का गुण नहीं। हिमालय की हिमाच्छादित एवं गगनस्पर्शी चोटियां एक दूर देश से आए हुए पथिक का हृदय अनिर्वचनीय आनन्दोल्लास से परिपूर्ण कर देती हैं। इसके विपरीत उन्हीं के मध्य में जीवन व्यतीत करने वालों के हृदय में उन्हें देखकर सौंदर्य के भाव किंचित् मात्र भी नहीं जागृत होते। सम्भव है कि भय अथवा बंधन के विचार उन्हें अधीर कर दें। भय इस कारण कि अकस्मात हिम की नदी आकर उनको कष्ट न पहुँचाय, तथा बंधन इस कारण कि उनको परित्याग करके वह अन्यत्र जा भी नहीं सकते। परन्तु पथिक को उनमें एवं अपने कल्पित आदर्शों में कतिपय सम्बन्ध अनुभव होने लगते हैं जिनके कारण वे शिखर उसे सुंदर दृष्टिगोचर होते हैं। हिम मुकुट विभूषित, आकाश चुम्बित तथा उन्नत-मस्तक गिरि-शृङ्ग उसे तत्काल

अलभ्य, अव्यक्त, अलौकिक, अपरिवर्तनशील एवं परम पुनीत जान पड़ते हैं। उनकी रचना अव्यक्त, एवं पदार्थ तथा रूप अपरिवर्त्तनशील ज्ञात होता है। ये अमित उँचाई तथा विस्तार होने से अलभ्य एवं अलौकिक, तथा तारागण खचित गगन-मण्डल से आवृत्त रहने के कारण परम पुनीत मालूम होते हैं। पथिक, उपर्युक्त सर्व गुणों की समष्टिरूप, उन हिमगिरि-शृङ्गों को निज सौंदर्य-मन्दिर में प्रतिष्ठित करता है। किन्तु यह मंदिर तो उसीका निर्माण किया हुआ है। सुंदरता पर्वत-शृङ्गों में निहित नहीं है, वरन् स्वयं उसके हृदय में तथा उसके मस्तिष्क में है। उसने कल्पना के दिव्य रङ्ग से रञ्जित कर इनको अपने लिये सुंदर बना लिया है। इस कल्पना के अभाव में यही शिखर केवल जड़वत् प्रतीत होते हैं अतएव इनको देखकर एक गँवार के हृदय में श्रम, असुविधा, भय इत्यादि का भाव उदय होना स्वाभाविक ही है।

इसी प्रकार जिस समय भगवान भुवन भास्कर अपनी दैनिक यात्रा से क्लान्त हो अस्ताचल की ओर अग्रसर होते हैं, तथा उनकी प्रिया पश्चिम दिशा अपने प्रियतम का आगमन जान उनके स्वागत के लिए अपूर्व शृङ्गार धारण करती है, उस समय की अवर्णनीय शोभा से कौन सा भावुक मुग्ध न होगा? तेजोमय दिवस एवं अन्धकारपूर्ण रात्रि का सहमिलन, विविध वर्णों का दैवी सङ्घट्ट तथा दिग्दर्शन पक्षिगण का सुमधुर कलरव, इत्यादि विविध प्रभावोत्पादक घटनाओं का सन्निपात इस दृश्य को एक अनूठी छटा प्रदान कर मनोमोहक बना रहा है। हमारा जीवन क्षणभङ्गर, परिवर्त्तनमय एवं ईश्वराधीन है, जब यही सादृश्य हम सन्ध्याकाल की प्राकृतिक घटनाओं में पाते हैं, तो इस

नैसर्गिक दृश्य की शोभा और भी अनुपम हो जाती है। प्रकृति के रहस्यों की तुलना अपने जीवन के रहस्यों से करना मनुष्य का स्वभाव है। इसी कारण असाधारण सौन्दर्य का जो प्रभाव हमारे अन्तस्तल पर पड़ता है उसमें सदैव विषाद की कुछ मात्रा मिश्रित होकर उस प्रभाव को अधिक कार्यक्षम बना देती है। सुन्दर वस्तु के दर्शन मात्र से हमको उस वस्तु की, संसार की तथा अपनी अनित्यता बोध होने लगती है, जिससे हमारे हृदय सागर मे वैराग्य की एक लहर आलोडित हो कर प्रत्यक्ष रूप में हमारे चित्त के विषाद का कारण होती है। किन्तु उल्लिखित सम्बन्ध न खोज सकने के कारण एक अशिक्षित व्यक्ति पर इन घटनाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, और सूर्यास्त का दृश्य उसे तनिक भी सुन्दर प्रतीत न होगा। हाँ, ऋतुज्ञान के निमित्त यदि उसकी दृष्टि आकाश की ओर उठ जाय तो कोई आश्चर्य नहीं।

स्त्री जाति के सौन्दर्य की भी ऐसी ही विवेचना की जा सकती है। समग्र भारत में सुन्दरता के लिए विख्यात होने पर भी यह सम्भव नहीं कि अफ्रीका, पापुआ अथवा जापान के अधिवासी एक भारतीय सुंदरी के सौन्दर्य की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करें। इसी प्रकार यदि उन देशों की कोई तरुणी इधर पदार्पण करे तो उसका भी यही हाल होगा। परंतु फिर भी वे सब की सब सुंदरी हैं, इस कारण नहीं कि सौन्दर्य गुण उनमे स्वभावत समाविष्ट है, वरन इस कारण कि वे निज निज देशवासियों के सौन्दर्यादर्शन से निकटतम सादृश्य रखती है। भारतीय, अफ्रीकन, पापुअन तथा जापानी यौवन के रूप की जैसी कल्पना करते हैं

इन स्त्रियों में से किसी एक को उसके अनुरूप पाकर सौन्दर्य की पुष्पाञ्जलि उसकी भेंट कर देते हैं। हम कह आए हैं कि हिमालय तथा सूर्यास्त की शोभा से हमारा हृदय विषाद-युक्त हो जाता है। एक सौन्दर्य-सम्पन्न युवती के दर्शन से भी विषाद के भाव उसी प्रकार जागृत होते हैं। कारण स्पष्ट है। जो आदर्श मूर्ति हमारी कल्पना के सिंहासन पर सुशोभित है, वह पारलौकिक है अर्थात् हम उसे क्षणभङ्गुर तथा परिवर्तनशील नहीं समझते। परन्तु यौवन अल्पकालिक एवं अस्थिर है, अतएव युवती के दर्शन से जनित हृदय की अवस्था में विषाद का कुछ सम्मिश्रण अवश्यम्भावी है। यह विषाद इस विचार से उत्पन्न होता है कि सभी सांसारिक पदार्थों के समान यौवन भी अनित्य एवं निस्सार है।

अतएव हम पुनः इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सौन्दर्य किसी वस्तु का ऐसा आन्तरिक गुण नहीं है, जैसा मिश्री में माधुर्य अथवा फूल में सुगन्ध। यदि हम किसी वस्तु को सुन्दर सम्बोधन करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे देखने से पूर्व उस वस्तु में कोई ऐसा सर्वमान्य तथा अविनाशी लक्षण अन्तर्हित था, जिसके कारण वह केवल हमको ही नहीं, बल्कि सारे जगत् को सुन्दर प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं कि हमको सुन्दर प्रतीत होने वाली सम्पूर्ण वस्तुओं में कुछ समगुणता हो। जिस प्रकार सारे संसार की मीठी मिठास पाया जाता है, ऐसा ही कोई एक गुण सर्व में मिलना कठिन है। हिमालय पर्वत, सन्ध्या का समय, तथा एक सौन्दर्यमयी कामिनी, इन तीनों में

किसी प्रकार की तुलना नहीं है, किन्तु एक भावुक के लिये ये तीनों ही सुन्दर हैं। वस्तुएं गोलाई के कारण गोल, स्वाद के कारण स्वादिष्ट, कठोरता के कारण कठोर, इत्यादि कहलाती हैं, परन्तु यदि इस प्रकार का निश्चित कोई गुण अथवा नियम प्रत्येक सुन्दर वस्तु में ढूँढ निकालने की चेष्टा की जाय तो वह निष्फल होगी। प्रथम तो भिन्न-भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों के कारण व्यक्तिगत आदर्श ही असमान है, दूसरे एक व्यक्ति प्रत्येक के आदर्श रूप की कल्पना करता है, अतएव सौन्दर्य की परिपाटी का एक ही नियम के वशवर्ती होना अस्वाभाविक है।

वस्तुओं को सुन्दर दर्शाने वाली मानसिक क्रिया में यदि कोई समतत्त्व है, तो केवल यह है कि वह सदा वैयक्तिक रुचि के अनुसार आदर्श की कल्पना किया करती है। यदि किसी भौतिक पदार्थ में कल्पित आदर्श के कुछ भी चिह्न लक्षित हो जायँ तो वह उसी को सुन्दर मान लेती है। कल्पित आदर्श एवं लक्षित वस्तु में जितना निकट सम्बन्ध होगा उतनी ही सुन्दर वह प्रतीत होगी। वस्तुओं के सौन्दर्य की कक्षा इसी सिद्धान्त पर निर्भर है। संसार में अनेक रूपवान हैं, परन्तु कल्पित मूर्त्ति से तुलना करने पर जान पड़ता है कि कोई अधिक है, कोई न्यून। आदर्श में प्रत्येक अंग में सादृश्य रखने वाली वस्तु जगत् में असम्भव है। आदर्श एवं वास्तविक के मध्य में, दोनों पृथक् करने वाला, एक अगम्य सागर सदा विराजमान रहेगा। यदि कोई सांसारिक वस्तु आदर्श के तुल्य हो जाय तो आदर्श की महिमा ही नष्ट हो जाय। हमारा ध्येय अपरिमित तथा अव्यक्त है। हम अपने आदर्श में अलौकिक गुणों का समावेश देखते हैं। परन्तु पार्थिव

पदार्थ परिमित होने के कारण अलौकिक नहीं हो सकते, अतएव आदर्श के साथ वास्तविक की तुलना करते समय चित्त में विषाद, दया अथवा वियोग का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। सायङ्काल तथा यौवन की छवि अल्पकालिक है, अतएव हमारे हृदय में इनके प्रति दया का भाव उमड़ कर हमारे आकर्षित होने का मुख्य साधन बन जाता है। हिमाचल कल्पान्त पर्यन्त इसी रूप में रहेगा, परन्तु हमारा शरीर शीघ्र ही पञ्चतत्त्व को प्राप्त हो जायगा, इस प्रकार के विचार उसकी शोभा को द्विगुणित कर देते हैं। इस प्रकार उक्त तीनों दृश्य चित्त में एक अव्यक्त क्षोभ को जन्म देते हैं। प्रथम दो की क्षणभङ्गुरता पर हम दयार्द्र हो जाते हैं, एवं तीसरी के दर्शन से हमें स्वयं अपनी अवस्था पर खेद होने लगता है।

हमारी सौन्दर्योपासना प्रवृत्ति अथवा सौन्दर्यानुराग का कारण जानना अब कठिन नहीं है। यदि कोई बालक बाज़ार में सुन्दर खिलौना देख पाता है तो घर आकर माता पिता से उसे ला देने का आग्रह करता है। मान लीजिए कि उसके माता पिता वह खिलौना एक दिन पश्चात् देने की प्रतिज्ञा करते हैं। जब तक वह खिलौना बालक के पास न आजाय, तब तक उसे धैर्य नहीं होता। खिलौने के प्राप्त हो जाने पर बालक को जैसी हार्दिक प्रसन्नता होती है, ठीक उसी प्रकार का आनन्द हमें किसी सुन्दर वस्तु के मिल जाने में होता है। यदि वह सुन्दर वस्तु हम से विलग हो जाय तो विवशता वश हमारे हृदय में वैसी ही वेदना होती है, जैसी बालक के हृदय में उसका खिलौना बलात् छिन जाने पर। इस अपार विश्व में क्या हम बालकों के समान नहीं हैं? मानम-

मन्दिर में प्रतिष्ठा पाने योग्य जो आदर्श हमने कल्पित कर रक्खा है, मूर्तिमान पाकर भी क्या हमे सुख न होगा ? अस्तु—

जिस प्रकार बालक सर्प की चमकती हुई देह से आकृष्ट हो कर निःशङ्क हो उसे पकड़ने की चेष्टा करता है, इसी प्रकार हम समझते हैं कि सुन्दर वस्तुओं से हमें किसी प्रकार की हानि पहुँचनी असम्भव है। एक सुन्दर स्त्री अथवा पुरुष यदि कोई गुरुतर अपराध भी करे तो हम तुरन्त उसे क्षमा प्रदान करने को तत्पर हो जाते हैं। भगवान् विष्णु ने इसी सौन्दर्य से दानवों को वशीभूत कर अमृत का घट छीन लिया था। कहना न होगा कि संसार के सारे मस्तिष्क युक्त प्राणी सौन्दर्योपासक हैं। नृत्य करता हुआ मयूर मयूरिनियों को उस प्रकार लुभा सकता है, जिस प्रकार मनुष्यों को। अपने हृदय के आराध्य देव को मूर्तिमान पाकर हम उसकी उपासना करते हैं, उससे प्रेम करते हैं, उसके सब अपराध क्षमा करते हैं, बस यही हमारी सौन्दर्योपासना है यही हमारा सच्चा सौन्दर्यानुराग है।

एक बात रह गई है। उसके बिना यह निबन्ध पूर्ण होता नहीं प्रतीत होता। अब तक हमने वस्तुओं के केवल बाह्य सौन्दर्य की व्याख्या की है। परन्तु वस्तुओं का आन्तरिक सौन्दर्य इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह संसार माया से परिपूर्ण है, अतएव यहां की अनेक वस्तुओं का बहिरङ्ग उनके अन्तरङ्ग के अनुरूप नहीं। प्रकृति ने मणि-भूषित, सुचिक्कण देह वाले सर्प को विषधर बनाया है। कठिन, कुरूप नारियल के गर्भ में मधुर गिरी उत्पन्न की है। अतएव प्रिय दर्शन वस्तुएं भी कभी-कभी हमारे लिये हानिप्रद सिद्ध हो जाती हैं। मनुष्य-मात्र

का आन्तरिक सौन्दर्य हृदय की शुद्धता, पवित्रता एवं स्थिरता में है। रूप से सुन्दर न होने पर भी, हृदय का प्रकाश मनुष्य को एक अपूर्व सौन्दर्य-ज्योति से आलोकित कर देता है। यदि किसी सुन्दर देह में पवित्र हृदय का निवास हो तो कहना ही क्या है। फिर तो तुलसी दास जी के शब्दों में—

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई। छबि गृह दीप सिखा जनु बरई॥

परन्तु इसके विपरीत कलुषित हृदय वाला मनुष्य सौंदर्य-राशि होने पर भी हमारी घृणा का पात्र होने के योग्य है। गोसाईं जी ने ठीक कहा है—

मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विषरस भरा कनक घट जैसे॥

अतएव मनुष्य-जीवन में हृदयगत सौन्दर्य का होना परमावश्यक है। बाह्य सौन्दर्य उसका सहायक हो सकता है, परन्तु आन्तरिक सौन्दर्य के अभाव की पूर्ति बाह्य सुन्दरता द्वारा नहीं हो सकती। हमको वस्तुओं का ग्रहण अथवा परित्याग केवल उनके बाह्यरूप के ही अनुसार करना उचित नहीं है। हमारे ध्येय ऐसे उच्च बनने चाहिए कि ह[illegible] [illegible] सुन्दर वस्तुओं की ओर आकृष्ट हो [illegible] [illegible] प की भी परीक्षा करना [illegible] न होगा। बाह्य सा[illegible] [illegible] यह कर, हमको स[illegible]

इक बाह[illegible],
ईस रचे[illegible]

(७)

ग्रामों को लौट चलिये

इस समय हमारे देश के शिक्षित नवयुवकों के सामने जो सब से जटिल प्रश्न उनके जीवन-संग्राम में प्रविष्ट होने पर उपस्थित होता है, वह है उनकी जीविका के सम्बन्ध में। देश के किसानों की दुर्दशा तो है ही, किन्तु साथ-साथ शिक्षित नवयुवकों की अवस्था तो और भी शोचनीय हो रही है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि जब इंगलैण्ड जैसे सम्पन्न देश में भी बेकारी की समस्या दिनादिन बढ़ रही है, तो ऐसी हालत में हमारे देश में—जहां नौकरी के स्थान बहुत थोड़े हैं, और स्वदेशी उद्योग धन्धे बिलकुल नष्ट हो गए हैं अथवा नाश को प्राप्त हो रहे हैं—यदि शिक्षित युवक नौकरी की तलाश में दर-दर मारे फिरते हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

आवश्यकता के लिए कोई नियम नहीं होता। आधुनिक शिक्षा और सभ्यता के गर्व में मोहान्ध हो कर हम जिस मार्ग का अब तक अनुसरण करते आये हैं, उसका परित्याग अब हमें करना ही पड़ेगा। जल्दी या देरी से इच्छा से अथवा अनिच्छा-पूर्वक, हमें अब उस स्थान की ही शरण लेनी पड़ेगी, जहां से हम आये हैं। अवस्था अब यहां तक पहुंच गई है कि इसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं, तो यह हमारा आत्म-प्रवञ्चन के सिवा और कुछ नहीं है।

धनी और दरिद्र दोनों ही के लिए अब नगर-जीवन अभिशाप-रूप सिद्ध हो रहा है। जिसे अब तक हम सोना समझते आ रहे थे, वह वास्तव में सोना न होकर कोई और ही चीज थी, जिसके ऊपरी आडम्बर और बाहरी तड़क-भड़क से मुग्ध होकर हम उसे अपने समस्त सुख साधन का भण्डार मान बैठे थे वही हमें अब बिलकुल सारहीन, नीरस और कटु मालूम हो रहा है। हम अपने हृदय के भीतर यह अनुभव करने लगे हैं कि हमारे जीवन से शान्ति, सन्तोष और सुख सदा के लिए विदा हो गए हैं। नगर-जीवन की कोलाहलमय अशान्ति, उत्कट भोगपरायणता असीम विषय तृष्णा, दुर्द्धर्ष स्वार्थपरता, विरुद्ध प्रतिद्वन्द्विता तथा हृदय के भीतर निरन्तर जलने वाली हाहाकार की लपटें नागरिक जीवन के असली स्वरूप को हमारी आँखों के सामने खड़ा कर देती हैं। किंतु नागरिक जीवन के इस स्वरूप का परिचय प्राप्त करके भी उसकी मोहकता हमें इतना अंधा बनाये हुए है कि हम फिर भी उसी ओर आँखें मूँद कर दौड़ते जाते हैं।

भारतीय सभ्यता का विकास ग्रामों से हुआ था, और इन ग्रामों से ही भारतीय जीवन की नींव सुदृढ़ हुई थी। भारत का धर्म, कर्म, शिक्षा, साहित्य, ज्ञान आदि जो कुछ हम इस समय देख रहे हैं, इन सबों की सृष्टि और विकास ग्रामों में ही हुआ था। भारतीय ग्राम ही प्राचीन भारत की कर्मभूमि थी और इस कर्मभूमि से ही भारतवासियों को मनुष्यत्व की शिक्षा मिली थी, किन्तु जब से हम कर्मभूमि की उपेक्षा करके नगर को ही अपनी सुख-समृद्धि का एकमात्र साधन मान बैठे हैं तभी से हमारी ... बराबर बढ़ रही है। विश्व-विद्यालय के उच्च शिक्षा पाये

हमारे विचार में इसका एक मात्र इलाज यही है कि नगरों का मोह छोड़ कर हम ग्रामों की शरण जावें और कृषि को अपनी जीविका का साधन बनावें।

यही एकमात्र उपाय है जिसका फल चिरस्थायी तथा कल्याण प्रद हो सकता है और अन्य जितनी व्यवस्थाएं होंगी, जितने उपाय बताए जायगे, वे कदापि स्थायी नहीं हो सकते। उनका परिणाम क्षणिक और तात्कालिक होगा और बेकारी की यह बीमारी इतनी गहराई तक पहुंच गई है कि इसके लिए क्षणिक उपाय से काम चल ही नहीं सकता। हमारे बहुत से युवक मित्र इस पुरानी बात की पुनरावृत्ति अर्थात् ग्रामों में जाकर खेती करने की बात सुनकर हँस पड़ेंगे नाक-भौं सिकोड़ेंगे। वे कहेंगे कि बार-बार एक ही पुराना राग अलापा जा रहा है, कोई नई बात नहीं बताई जाती, कोई नया उपाय नहीं सुझाया जाता, किन्तु क्या किया जाय, लाचारी है। रोग जब असाध्य हो चला है तो दवा कैसी कड़वी क्यों न हो, उसे निगलना ही पड़ेगा। यह सच है कि हमारे शिक्षित नवयुवकों के लिए भारतीय ग्रामों में अब कोई आकर्षण नहीं रहा। ग्राम का सौन्दर्य, ग्राम की छटा अब उनके लिए मोहक नहीं रहा। उनके सुख साधन के सामान अब ग्रामों में नहीं रहे। ग्राम्य-जीवन की कठिनाइयां भी कम नहीं हैं, परन्तु इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना भी तो नवयुवकों का ही काम है। यदि देश के युवक आगे बढ़कर कष्टों और असुविधाओं को झेलते हुए ग्रामीण भाइयों का हाथ नहीं पकड़ेंगे उनके सुख दुःख के साथी नहीं बनेंगे, तो दूसरा कौन बनेगा? जो भारतीय किसी समय सुख श्री सम्पन्न थे, धनधान्य से परिपूर्ण थे, वे

आज श्मशान रूप में परिणत हो रहे हैं और उस श्मशान के चारों ओर से घेरे हुए नर कंकाल के रूप में जो ग्रामवासी देख पड़ते हैं उनके उद्धार के लिए यदि देश के शिक्षित युवक आकुल तथा आकांक्षा, निःस्वार्थ-सेवा एवं आवेशपूर्ण हृदय लेकर कर्मक्षेत्र में पदार्पण नहीं करेंगे, तो फिर और कौन करेगा ? ग्राम्यकुटीरों में रहने वाले स्त्री-पुरुषों के भग्नोत्साह एवं निराशामय जीवन में उत्साह तथा आशा का संचार कराने वाले देश के युवकों के सिवा और दूसरा कौन है ? ग्रामवासियों के अन्धकारमय शून्य जीवन में आशा-प्रदीप प्रज्वलित करके उन्हें सन्मार्ग प्रदर्शित करने का काम युवकों के सिवा और कौन कर सकता है ? ग्रामवासियों के पर्णकुटीरों से सदा के लिए जो गृहलक्ष्मी विदा हो गई है उसे फिर से लाकर स्थापित करने का काम युवकों के हाथ में ही हो सकता है। ग्रामों में रहकर हमें ग्राम्यजीवन को पहले के समान सुख-शान्तिपूर्ण एवं स्वस्थ बनाना पड़ेगा। एक बार जाकर हम ग्रामवासियों के बीच रहने का प्रयत्न करेंगे और अपनी रुचि को परिस्थिति के अनुकूल बनाने की कोशिश करेंगे, तो क्रमशः हमारा जीवन उसका अभ्यस्त बनता जायगा, और ग्राम की शान्तिमयी परिस्थिति, प्राकृतिक सौन्दर्य सुखकर जलवायु और शुद्ध स्वास्थ्यप्रद भोजन हमारी रुचि तथा हमारी मनोवृत्ति में वह परिवर्तन कर देंगे, जिससे फिर हमारी दृष्टि में नगर जीवन की झूठी विलासप्रियता और ऊपरी तड़क-भड़क बिलकुल तुच्छ प्रतीत होने लगेगी।

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। इस समय हमारे देश के किसानों की जैसी हालत है और कृषि की जैसी

किया जाय।

इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करके हमारे देश के युवक खुशी से कृषि-कार्य को व्यवसायरूप में अपनाने के लिए तयार हो जायगे, और इसके साथ-साथ उनका मानसिक संस्कार भी इस रूप में परिवर्तित हो जायगा कि उनके मन से विलासिता और वाह्याडम्बर का मिथ्या मोह सदा के लिए दूर हो जायगा। इस समय हमारे देश में 'ग्रामों की ओर लौट चलिए' (Back to the Village) की आवाज जो बुलन्द की जा रही है, वह तब तक कारगर नहीं हो सकती, जब तक कि ग्राम्य जीवन व्यतीत करने के लिए हम देश में उपयुक्त शिक्षण प्रणाली का प्रसार नहीं करते।

—जगन्नाथप्रसाद मिश्र

(८)

कर्मवीर महाराणा प्रताप

महाराणा प्रताप के यहा अच्छा आदर सत्कार पाने पर
निभीषण मानसिंह चित्तौड़ के राजकुमार से बोले, 'राणा जी
सिर में जो दर्द है उसकी दवा लकर शीघ्र ही लौटूँगा।" निभीषर
मानसिंह शीघ्र ही लौटा। हल्दीघाटी के मैदान ने इस सुयोग्य
चिकित्सक का आवाहन किया। प्रताप भी अपनी कठिनाइयों का
पहला पाठ पढ़ने के लिय इस रणक्षेत्र की ओर आगे बढ़ा।
२२००० हजार साथी—लेकिन अन्त में आठ हजार ही बचे, शेष
सब प्रताप को गुरुदक्षिणा मे देने पड़े। घमासान युद्ध। प्राणो
का बाजार पूरा गरम। भीषणता, और उसका सच्चा महत्त्व उसी
समय समझ सकते हो जब एक किसान की कुटी की शान्ति और
सौम्यता से इस दृश्य की तुलना करो। मनुष्य की पाशविक शक्ति
का पूरा नमूना, लेकिन, साथ ही संसार के उज्वल गुणों का पूरा
खजाना। मर रहे और मारे जा रहे हैं। एक पर एक टूट रहे है,
और एक पर एक गिर रहे हैं। ढाल—लेकिन अन्त मे कोमल
शरीर ही ढाल का काम देते हैं। तलवार—मनुष्य के रक्त की
तरलता देखकर उसका पानी और भी तरल हो जाता है। बर्छियाँ
जरा सा भी अन्याय नहीं करतीं। इस यज्ञकुण्ड मे, प्रताप। तुम
अपनी जान की बार बार आहुति दे रहे हो। लेकिन तुम इस

तरह से छुटकारा नहीं पा सकते, तुम्हें ससार में रहकर ससार से सग्राम करना है! मानसिंह! वह—निर्भीपरा रूवा लेकर प्रताप के सामने न आ सका। ओह! सलीम बचा है, छोड़ो प्रताप, उस छोड़ा! आए, अब तम बेतरह घिर गये! तुम अकेले और ये मुगल सिपाही सब डा! तुम्हारा मुकुट इस समय तुम्हारा शत्रु हो गया है। फेंक दो उस! अब फेंक दो उसे! लेकिन कितने मारोग, एक, दो तीन–अरे, वे आते ही जाते हैं, अब भी फेंक दो, फेंको भी! देश और जाति को, नहीं, ससार को, तुम्हारी जान, तुम्हारे सोने के मुकुट से भी ज्यादा प्यारी है। नहीं फेंकोगे? अच्छा राजपूत वीरो! आगे बढ़ो, तुम्हारा अधिपति मुफ्त में जा रहा है! बढ़ो आगे, बचाओ, बचाओ! हाँ सदरी के भाला! तुम हाँ, बढ़ो! बस ठीक! भाला के सिर पर मुकुट है। मुगल तलवारें भाला पर पडने लगीं। प्रताप को उन्होंने छोड दिया। एक जान के बदल दूसरी जान! भाला ने अपनी जान देकर अधिक कीमती जान बचा ली! रक्तनदी बह उठी। लेकिन, चित्तौड की स्वतन्त्रता देवी की प्यास न बुझी! अभी तो परीक्षा आरम्भ ही हुई है प्रताप! एक किले के बाद दूसरा किला दो! अब किले नहीं रहे तो जाओ पहाड़ों और जगलों की खाक छानो। हे! रसद बन्द हो गई, तो क्या हर्ज है? पत्ते कहीं नहीं गये, जगलों का सामा और कादा का कोई हाथ न पकड लेगा। आज यहाँ तो कल वहाँ, घास की रोटियाँ, लेकिन खाते ही मुगल आ पहुँचे। लड़ते भिडते निकल चलो! सोने के पिञ्जर नहीं कोई हर्ज नहीं! बच्चों के लिये चट्टानें और बच्चों के लिए घास के पालने ही सही! अन्धेरी रातें, धधकती दुपहरियाँ जाड़े का कडाका,

वर्षा की रिमझिमाहट, आत्मा की आग और परमात्मा की उदासीनता–साथियों का मरते जाना और सैनिकों का कम होते जाना, कठिन तपस्या और कठोर व्रत ! एक दिन नहीं और दो दिन भी नहीं, एक साथ पच्चीस वर्ष तक !

(२)

यह कैसी चीत्कार ? चित्तौड़ की राजकुमारी के हाथ से एक वन विलाव घास पात की रोटी छीन ले गया। राजकुमारी चीख उठी। विलाव के डर से नहीं भूख के डर से, राजकुमारी—और रोटी के लिए तरसे ! लेकिन प्रताप–यह क्या ? तुम्हारी आत्मा काँप क्यों उठी ? लड़की की वेदना देख कर और परिवार के कष्टों से ? शान्त हो और जरा विचारो ! देखो, वह तुम्हारे शत्रु अपने खीमों में घी के दीपक जला रहे हैं। क्यों ? तुम्हारी हिम्मत टूटती हुई देखकर। इन दीपकों के घी और बत्ती के साथ, सच बताओ, तुम्हारा हृदय जला कि नहीं ? हाँ जला, अब इस जले पर नमक छिड़कने की जरूरत नहीं।

(३)

हो चुपा ! बस, चितोड़ की पवित्र भूमि ! तुझे नमस्कार है। तुझे छोड़ता हूँ, लेकिन स्वतन्त्रता का पल्ला नहीं छोड़ता। जो था, सो सब इस देवी के अर्पण हो चुका। शरीर में जो हड्डियाँ बाकी हैं, वे भी अर्पण हो चुकीं। जननी जन्मभूमि अंतिम दर्शन है। लो, आज्ञा दो।

प्रताप, आगे बढ़ो ! तुम्हारी सच्ची माता तुम्हें बुला रही है। हरिश्चन्द्र अपनी दासता के कर्तव्य में जब हद्द से ज्यादा आगे

तरह से छुटकारा नहीं पा सकते, तुम्हें ससार में रहकर ससार से सग्राम करना है ! मानसिंह ! वह—विभीषण दवा लेकर प्रताप के सामने न आ सका। आह ! सलीम बचा है छोडो प्रताप, उसे छोडो ! आह, अब तुम चेतरह घिर गए ! तुम अकेले, और ये मुगल सिपाही सकडो ! तुम्हारा मुकुट इस समय तुम्हारा शत्रु हो गया है। फेंक दो उसे ! अरे फेंक दो उसे ! लेकिन कितने माराग, एक, दो तीन—चार, वे आते ही जाते हैं अब भी फेंक दो, फेंको भी ! देश और जाति को, नहीं ससार को, तुम्हारी जान, तुम्हारे सोने के मुकुट से भी ज्यादा प्यारी है। नहीं फेंकोगे ? अच्छा राजपूत वीरो ! आगे बढ़ो, तुम्हारा अधिपति मुसत में जा रहा है ! बढ़ो आगे, बचाओ, बचाओ ! हाँ सदरी के झाला ! तुम हो, बढ़ो ! बस ठीक ! झाला के सिर पर मुकुट है । मुगल तलवारें झाला पर पड़ने लगीं। प्रताप को उन्होंने छोड़ दिया। एक जान के बदले दूसरी जान ! झाला ने अपनी जान देकर अधिक कीमती जान बचा ली ! रक्त-नदी बह उठी । लेकिन चित्तौड़ की स्वतन्त्रता देवी की प्यास न बुझी ! अभी तो परीक्षा आरम्भ ही हुई है प्रताप ! एक किले के बाद दूसरा किला दो ! अब किले नहीं रहे तो जाओ पहाड़ों और जगलों की खाक छानो। हाँ ! रसद बन्द हो गई, तो क्या हर्ज है ? पत्ते कहीं नहीं गये जगल का मामा और कोल का कोई हाथ न पकड़ सका । आज यहाँ तो कल वहाँ, घास की रोटियाँ, लेकिन खाने ही मुगल आ पहुँचे । लड़ते भिड़ते निकल चलो ! सोने के खिलौने नहीं कोई हज नहीं बच्चों के लिये चट्टान और बच्चा के लिए बाँस के पालने ही सही ! अन्धेरी रातें, धधकती दुपहरियाँ जाड़े का कड़ाका,

प्यार करते थे और घोड़े चेतक ने उसके ऊपर अपनी जान न्योछावर कर दी। स्वतन्त्रता देवी को वह प्यारा था, और वह उसे प्यारी थी। चित्तौड का वह दुलारा था और चित्तौड की भूमि उसे दुलारी थी। उदार इतना कि बेगमें पकड़ी गईं और सम्मान सहित वापिस भेज दी गईं सेनापति फरीदखा ने कसम खाई कि प्रताप के खून से मेरी तलवार नहायेगी, प्रताप ने सेनापति को पकड कर छोड़ दिया।

(५)

अन्तिम काल जान नहीं निकलती। लेकिन राणा जी, क्यों ? मुझे विश्वास नहीं कि मेरे बाद चित्तोड की स्वाधीनता कायम रह सके। क्यो ? राजकुमार दृढ न सही, मेवाड के सोलह सरदार, राणा जी, कसम खाते हैं कि हम अपने खून से स्वतन्त्रता के उस बीज को जो तूने बोया, सींचेगे। शान्ति हुई, और उसकी आत्मा शरीर से बाहर होकर स्वतन्त्रता देवी की पवित्र गोद मे जा विराजी। प्रताप ! हमारे देश का प्रताप ! हमारी जाति का प्रताप ! दृढता और उदारता का प्रताप ! तू नहीं है, केवल तेरा यश और कीर्ति है। जब तक यह देश है और जब तक ससार में दृढता, उदारता, स्वतन्त्रता और तपस्या का आदर है, तब तक हम क्षुद्र प्राणी ही नहीं, सारा ससार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा। ससार के किसी भी देश में तू होता, तो तेरी पूजा होती, और तेरे नाम पर लोग अपने को न्योछावर करते। अमेरिका मे होता, तो वाशिंगटन और इब्राहेम लिंकन से तेरी किसी तरह कम पूजा न होती। इङ्गलैण्ड मे होता तो वेलिंगटन और नेलसन को तेरे सामने सिर झुकाना पड़ता। स्काटलैण्ड में

पड़ गये थे, तब कहते हैं कि निराकार प्रभु ने आकर उनका हाथ पकड़ा था। मेवाड़ की भूमि भी तेरा पैर पकड़ रही है। देख, उसका एक सपूत आगे बढ़ता है। भामाशाह तुझे पर थामता है। देश को मत छोड़, वह तुझे छोड़ने के लिए तैयार नहीं। भाग्य भी अभी तक तुझे छोड़ था, लेकिन अब वह प्रार्थना करता है कि तू उसे मत छोड़। ले धन। २५००० हज़ार आत्मा इस धन से १२ वर्ष तक खा सकेंगे। तेरी तपस्या पूरी हो गई और देख स्वतन्त्रता देवी स्वयं तेरे पास आरही है। तेरे साहस और तेरी दृढ़ता तथा वीरता और उदारता के सामने उसका आसन डोल उठा है। देख, शान्ति से वह मुस्करा रही है। उसके हाथों में माला है और देख वह तेरे गले में गिरती है।

(४)

महान पुरुष—निस्सन्देह महान पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है? स्वतन्त्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी जन्मभूमि के लिए किसने इतनी तपस्या की? देशभक्त, लेकिन देश पर हिंदुस्तान जिताने वाला नहीं, पूरा राना लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं। उसकी उदारता और दृढ़ता का सिक्का शत्रुओं तक ने माना। शत्रु से मिले भाई शक्तिसिंह पर उसकी दृढ़ता का जादू चल गया। अकबर का दरबारी पृथ्वीराज उसकी कीर्ति गाता था। भील उसके इशारे के बन्दे थे। सरदार उस पर जानें न्योछावर करते थे। भामाशाह ने उसके पैरों पर सब कुछ रख दिया। विभीषण मानसिंह उससे नज़र नहीं मिला सकता था। अकबर उसका लोहा मानता था। खानखाना उसकी तारीफ में पद्य-रचना करना पुण्य-कार्य समझता था। जानवर भी उसे

हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशों के इतिहास में भिन्न भिन्न जातियों मे पारस्परिक संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही संघर्षण से सभ्यता का विकास होता है। भिन्न-भिन्न देशों मे भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति का दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल होता है, पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। दो जातियों में परस्पर भिन्नता रहनी चाहिए। परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पडता है तब विवश होकर उन्हें कोई ऐसा सम्बन्ध-सूत्र खोजना पडता है जिससे उस भिन्नता में भी एकता स्थापित हो जाए। यही सत्य का अन्वेषण है, बहु मे एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत मे जाति प्रेम की समस्या अधिक कठिन थी। योरप में जिन जातियों का सम्मिलन हुआ है उनमे इतनी विषमता न थी। उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जाति-गत विद्वेष और विरोध की मात्रा कम नहीं थी तो भी कदाचित् उनमें वर्ण-भेद नहीं था। यही कारण है कि इंगलैण्ड में सेक्सन और नार्मन जातियों मे इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यही है कि सभी पाश्चात्य

वालेस और रावर्ट ब्रूस तेरे साथी होते । फ्रांस मे जान 'आफ आर्क तेरी टक्कर की गिनी जाती और इटली तुझे मेजिनी क मुकाबले में रखती । लेकिन हम भारतीय निबल आत्माओं क पास है ही क्या, जिससे हम तेरी पूजा करें और तेरे नाम की पवित्रता को अनुभव करें। एक भारतीय युवक आँखों में आंसू भरे हुए नेत्रों सहित अपने हृदय को रोता हुआ, लज्जा के साथ तेरी कीर्ति गा-नहीं रो-नहीं, कह भर लेने के सिवा और कर ही क्या सकता है ?

—गणेशशंकर विद्यार्थी

(६)

हिन्दी साहित्य और मुसलमान कवि

सभी देशों के इतिहास में भिन्न भिन्न जातियों में पारस्परिक संघर्ष के उदाहरण मिलते हैं। उनसे यही सिद्ध होता है कि ऐसे ही संघर्षण से सभ्यता का विकास होता है। भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण विभिन्न जातियों के विभिन्न आदर्श होते हैं। जब एक जाति का दूसरी जाति के साथ मिलन होता है तब उसका सामाजिक जीवन जटिल होता है, पर इसी जटिलता से सभ्यता का विकास होता है। दो जातियों में परस्पर भिन्नता रहनी चाहिए। परन्तु जब उन्हें एक ही स्थान में रहना पड़ता है तब विवश होकर उन्हें कोई ऐसा सम्बन्ध-सूत्र योजना पड़ता है जिससे उस भिन्नता में भी एकता स्थापित हो जाए। यही सत्य का अन्वेषण है, बहु में एक और व्यष्टि में समष्टि।

भारतवर्ष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटना भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सम्मिलन है। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जाति प्रेम की समस्या अधिक कठिन थी। योरप में जिन जातियों का सम्मिलन हुआ है उनमें इतनी विषमता नहीं थी। उनमें से अधिकांश की उत्पत्ति एक ही शाखा से हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि उनमें जाति-गत विद्वेष और विरोध की मात्रा कम नहीं थी तो भी कदाचित् उनमें वर्ण-भेद नहीं था। यही कारण है कि इंगलैण्ड में सेक्सन और नार्मन जातियों में इतना शीघ्र मिलाप हो गया। सच तो यही है कि सभी पाश्चात्य

केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की, किन्तु अपने धर्म का भी प्रचार किया। तभी हिन्दू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सब से अधिक प्रयत्न किया कबीर ने। कबीर ने देखा कि भारतवर्ष हिन्दू में और मुसलमानों का विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोइ हिन्दू कोइ तुरक कहावै एक जमीं पर रहिए।
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिए॥
वेद किताब पढ़ें वे कुतबा मौलाना वे पांडे।
बिगत बिगत के नाम धरायो यक माटी के भांडे॥

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़ कर उन्हें एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों उनका विरोध करते थे। कबीर को उनकी इस मूढ़ता—इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि में पड़ कर दोनों नष्ट हो जायेंगे।

साधो देखो जग बौराना।
साँच कहो तो मारन धावै झूठे जग पतियाना॥
हिन्दू कहत हैं राम हमारा, मुसलमान रहिमाना।
आपस में दोउ लरि लरि मूए मरम न काहू जाना॥
हिन्दू की दया महर तुरकन की, दोनों घट सों त्यागी।
वे हलाल वे झटका मारें, आग दोउ घर लागी॥
या विधि हँसत चलत हैं हम को आप कहावें स्याना।
कहे कबीर सुनो भई साधो, इन में कौन दिवाना॥

स्वदेश की कल्याण-कामना से प्रेरित हो कर कबीर उस पथ को खोज निकालना चाहते थे, जिस पर हिन्दू और मुसलमान

दोनों चल कर आत्मोन्नति कर सकें। परन्तु हिन्दू एक ओर जा रहे थे तो मुसलमान ठीक उसके विपरीत जा रहे थे। कबीर ने उनको चेतावनी दी—

अरे इन दुहु राह न पाई।
हिन्दू की हिन्दुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहें कबीर सुनो भई साधो कौन राह है जाई॥

इसीलिए कबीर ने हिन्दू की हिन्दुवाई और तुर्क की तुरकाई दोनों को छोड़ दिया। उन्होंने केवल मनुष्यत्व को ग्रहण किया—

हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं मुसलमान भी नाहिं।

उन्होंने दोनों को एक ही दृष्टि से देखा—

समदृष्टि सतगुरु किया मेटा भरम विकार।
जहँ देखों तहँ एक ही साहेब का दीदार॥
समदृष्टि तब जानिए सीतल समता होय।
सब जीवन की आत्मा लखें एक सी सोय॥

कबीर का प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरो ने इस एकता की नींव को दृढ़ किया। हिन्दी में कागज पत्र, शादी ब्याह, खत पत्र आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक हैं। इसके बाद जायसी ने मुसलमानों को हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य का दर्शन कराया।

तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि।
जामें मारग प्रेम का सबै सराहैं ताहि॥

मलिक मुहम्मद जायसी कवि ही नहीं थे, साधक भी थे।

कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी भाषा में रचना कर उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके अखरावट से मिलता है। अपने धर्म पर अविचल रहकर कोई भी दूसरे के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है? यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नहीं हैं।

> तिन्ह सन्तति उपराजा भाँतिहि भाँति कुलीन।
> हिन्दू तुरक दुनउ भए अपने अपने दीन॥

जायसी ने जो शिक्षाएँ दी हैं उनमें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके। ईश्वर की सर्वव्यापकता पर उन्होंने कहा है—

> जस तन तस यह धरती जस मन तइस अकास।
> परम हंस तेहि मानस जइस फूल मह बास॥

जो उनका दर्शन करना चाहते हैं उन्हें अपने हृदय को सदैव स्वच्छ रखना चाहिए—

> तन दरपन कहँ साज दरसन देखा जो चहइ।
> मन सा लीजो माँज, महमद निर्मल होय किया॥

उन्होंने एकेश्वरवाद की सदैव शिक्षा दी है—

> एक कहत दुइ होय दुइ से राज न चल सकइ।
> बीच तें आपहु खोय महमद एकइ होइ रहु॥

भोग्य और भोक्ता में भी उन्होंने कोई भिन्नता नहीं देखी है—

> सनइ जगत दरपन कइ लेखा।
> आपुहि दरपन आपहु देखा॥

आपुहि बन अउ आपु पखेरू,
आपुहि सउजा आप अहेरू।
आपुहि पुहुप फूल-गति फूले,
आपुहि भवर नाम रस भूले।
आपुहि फल आपुहि रखवारा,
आपुहि सो रस चाखन हारा।
आपुहि घट घट मह मुख चाहइ,
आपुहि आपन रूप सराहइ।
आपुहि कागद आपु मसि आपुहि लिखन हार।
आपुहि लिखनी अखर आपुहि पंडित अपार॥

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फकीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्य युग में एक नवीन भारतीय कला की सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी। देश में नवीन भाव का यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबर के राजत्वकाल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामन्त्री अबुलफ़ज़ल ने एक

हिन्दू मन्दिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—हे ईश्वर सभी देव मंदिरों में मनुष्य तुम्हीं को मानते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं। विश्व तुम्हारा, तुम्हारा हो। और मुसलमान-धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं। कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मसजिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिर्जा घरों में तुम्हारे लिए घंटा बजाते हैं। एक दिन मैं मसजिद जाता हूँ और एक दिन गिर्जा। पर मन्दिर-मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्य के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन *अबुलफजल का यह उद्गार मध्ययुग का नवीन संदेश था।*

हिन्दी में सूरदास और तुलसीदास ने अपने युग की इस भावना से प्रेरित हो मनुष्य जीवन में श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया उसी भाव को ग्रहण कर मुसलमानों में रहीम ने कविता लिखी निम्नलिखित पद्यों से प्रकट हो जाता है कि रहीम ने हिन्दू भाव को कितना अपना लिया था—

अनुचित वचन न मानिए जदपि गुराइस गाढ़ि। -
है रहीम रघुनाथ ते सुजस भरत को बाढ़ि॥
कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय॥
गहि सरनागति राम की भवसागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर और न कछू उपाव॥
जो रहीम करिबो हुतो ब्रज को इहै हवाल।
तो काहे कर पर धरयो गोवर्धन गोपाल॥

मुगलों के शासन काल में हिन्दी साहित्य की जो श्री वृद्धि

हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राजभाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दी साहित्य की। उस समय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध का हटाने की चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गए। इनमें रसखान की भक्ति ने हिन्दी में रस की धारा बहा दी है। उनका निम्नलिखित पद्य बडा प्रसिद्ध है—

मानुस हों तो वही रसखान बसों मिलि गोकुल गोप गुवारन।
जो पशु होऊँ कहा बसु मेरो चरों नित नन्द की धेनु मझारन॥
पाहन हों तो वही गिरि को जु कियो ब्रजछत्र पुरन्दर कारन।
जो खग होऊँ बसेरो करों वही कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

मुसलमानों के लिए यह प्रेम कम साहस का काम नहीं था। ताज का यह कथा सर्वथा उचित था—

सुनौ दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम
दस्त की बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी में निवाज हू भुलानी तजे
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह दाग में निदाघ ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पे,
ताण नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥

इसी प्रेम से प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियों ने हिंदी-साहित्य को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया है।

राजनीति के क्षेत्र में हिंदू और मुसलमान जाति का विरोध

दूर नहीं हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का मनुटाव बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में सङ्कोच नहीं किया। इसी चिरन्तन सत्य के आधार पर-इसी ऐक्य मूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर-भारत ने अपनी जातीयता की स्थापना की है। इसी जातीयता में सभी जातियाँ अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इनमें सम्मिलित होने के लिए हिन्दुओं ने अपना हिन्दुत्व नहीं छोड़ा और न मुसलमानों ने अपना धार्मिक और सामाजिक संस्कार परित्याग किया। परन्तु उन दोनों का मिलन अनन्त सत्य के मन्दिर में हुआ, जहाँ बाह्य आचार-व्यवहार और कृत्रिम जाति भेद के बन्धन से मनुष्य जाति की एकता भिन्न नहीं होती। यह एकता काल्पनिक नहीं है। यह हिंदू और मुसलमान के जीवन में अभी तक काम कर रही है। सत्य सकुचित कर देने से ही इनमें परस्पर विरोध होता है। ईश्वर में ही सभी विरोधों का मिलन होता है। इसीलिए उसी को अपना लक्ष्य मानकर भारत ने अपनी जातीयता की सृष्टि की है। यहाँ एक ओर समाज में आचार-विचार की रचना होती आई है और दूसरी ओर मनुष्य की एकता को लोग स्वीकार करते आये हैं। एक ओर भिन्न-भिन्न वर्णों में एक ही पंक्ति में बैठ कर खाने पीने तक का निषेध किया गया है, और दूसरी ओर 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की शिक्षा दी गई है। आधुनिक युग में जाति भेद की जो समस्या उपस्थित हो गई है उसके सम्बंध में रवीन्द्र बाबू ने बिलकुल ठीक लिखा है कि आजकल जाति-विद्वेष खूब बढ़ गया है। सभ्य जाति अपनी शक्ति के मद से उन्मत्त हो निर्बल जातियों पर अत्याचार करने में सङ्कोच नहीं

करती। अभी मनुष्यत्व का विचार उनके लिए उपहासास्पद है। परन्तु जब जातीय स्वातन्त्र्य, पर-जातिविद्वेष और स्वार्थ-सिद्धि का वीभत्स रूप दृष्टिगोचर होने लगेगा तब मनुष्य यह समझेगा कि मनुष्य की यथार्थ मुक्ति किसमें है। नर में नारायण का उपलब्ध करने में ही उसकी मुक्ति है इसी में उसका कल्याण है। इसके लिए अधिक तर्क करने की आवश्यकता नहीं।

बिंदु मों सिंधु समान को अचरज कासों कहै।
हेरनहार हेरान, रहिमन अपने आपतें॥*

—हरिवल्लभ जोशी

---

* उक्त लेख के परिशिष्ट रूप में कुछ और मुसलमान कवियों के नामादि दिये जाते हैं—

शेखकुतबन, १६ वीं सदी, मृगावती। उसमान १७ वीं सदी, चित्रावली। सय्यद मुबारिकअली, १७वीं सदी तिलशतक, अलकशतक। अब्दुलरहमान, १७वीं सदी यमकशतक। अलीमुहीब खाँ (प्रीतम), १८वीं सदी, खटमल-बत्तीसी। आजम, १८वीं सदी, नख शिख और षट् ऋतु। सैयद गुलाम नबी (रसलीन), १९वीं सदी, रस प्रबोध, अंगदर्पण। स्त्री कवि 'शेख' भी प्रसिद्ध है। वर्तमान समय के अमीरअली 'अमीर' प्रसिद्ध कवि हैं।

—सम्पादक

(१०)

समाज और साहित्य

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं में घिरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान-बीन करते जाइए, उतनी ही नई-नई शृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायगी। कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष! दोनों में कितना अन्तर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, तनिक सोचिए तो सही। एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है! उस नाम मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है। जो समय पाकर पत्र पुष्प, फल से सम्पन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है, जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। सब बातें विचित्र, आश्चर्यजनक और कौतूहल वर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमानुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते, और अन्त में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं। पर वहीं उनकी समाप्ति नहीं है, वहीं उनका अन्त नहीं है। वे सृष्टि के कार्य-साधन में निरन्तर तत्पर हैं। मर कर भी वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छान-बीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम-क्रम से उनकी उन्नति हुई और

जिस प्रकार उनकी सकुलता बढती गई। जैसे ससार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विकासवाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं, वैसे ही वे मनुष्य के सामाजिक जीवन के उन्नति क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हम विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य व जगली अवस्था मे थे। सृष्टि के आदि म सब प्रारम्भिक जीव समान ही थे, पर सब ने एक सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही, उसपर उसकी उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अन्त में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा, वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया, उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। सारांश यह कि आवश्यकतानुसार उनके रहन सहन, भाव, विचार सब मे परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था, वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नए विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं, नई चीजो के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है, तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिए कष्ट दिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन मे परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है। अर्थात् ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी सकुलता होती गई, त्यों त्यों सभ्यता देवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में

उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ-साथ दूसरे स्वत्वों और अधिकारों का भी ध्यान हो जाता है। यह भाव जिस जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है, उतनी ही अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती, अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असम्भव है। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्य रूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है, वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है, अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव सामग्री निकाल कर समाज को सौंपता है, उसके संचित भंडार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिम्ब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी, वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है। वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को सुरक्षित रखना

है। पहले-पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं, उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे-धीरे युद्धों के वर्णन, अद्‌भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकाड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण मे वाणी का विशेष स्थायी रूप मे उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का प्रधान अग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृङ्खला हो जाती है, जिससे साहित्य के विशेष विशेष अङ्गो की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास के लिए साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारा पर प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पडता है। शीतप्रधान देशों मे अपने को जीवित रखने के लिए निरन्तर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में रहने वाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों को सोचने और उन्हीं का अवलम्बन करने मे बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हे सासारिक बातो से अधिक ममता हो जाती है, और वे अपने जीवन का उद्देश्य सासारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहा इसके प्रतिकूल अवस्था हो, वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया, तब फिर उसकी चिन्ता ही क्या रह जाती है? भारत-भूमि को प्रकृति-देवी का प्रिय और प्रकाण्ड क्रीडाक्षेत्र समझना चाहिए। यहा सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहा प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं? फिर इनकी चिन्ता यहाँ के

संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दु समय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित प्रतिक्रियमाण करेगा, तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण दिख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय बात यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके? मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करने वाला, सजीवनी शक्ति का संचार करने वाला, चरित्र को सुन्दर ढाँचे में ढालने वाला तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करने वाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि वह साहित्य परिमार्जित सरस ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाए। इसको लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिन्दी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है। पर शुभ लक्षणों नि और देखने में आ रहे हैं। यह दृढ़ आशा होती है कि [illegible] स्वातः दिनों से उसका उदय दिखाई पड़ेगा। जिससे जन-स[illegible] ही [illegible] राखोरें खुलेगी, और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग की [illegible] आलोकि से जगमगा उठेगा।

मैं थोड़ी देर के लि[illegible]न की [illegible] [illegible] और पद्य की ओर दिलाना चाह[illegible] [illegible] अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा [illegible] से व्यवस्थित दिखाई नहीं देती [illegible] हो चुका उसमें जो कु[illegible] जाता है,

वह अधिकाश अवस्था मे मतभेद के कारण नहीं, वल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात या व्यतिक्रम प्रान्तिक शब्दों के प्रयोग व्याकरण के नियमों के उल्लघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पडते हैं। इनके लिए कोई मत सम्बन्धी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिए केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य मे केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं वॉटना चाहिए।

गद्य के विषय मे इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोडा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पडता है। इसमें कोई मतभेद नहीं कि जो हिन्दी गद्य के लिए ग्रहण की गई है, वह दिल्ली और मेरठ प्रान्त की है।

यद्यपि हमारे गद्य की भापा मेरठ और दिल्ली के प्रान्त की है, पर साहित्य की भापा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रान्तों में भी हो गया है। अत वह उन प्रान्तो के शब्दो का भी अभाव पूर्ति के निमित्त अपने मे समावेश करेगी। यदि उसके जन्मस्थान मे किसी वस्तु का भाव व्यजित करने के लिए कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रान्त से, जहा उसका शिष्ट समाज या साहित्य मे प्रवेश है शब्द ले सकती है। पर यह वात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द-मात्र अपने मे मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भापा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अन्त करण मे भावो की अनेकरूपता का विकास करे।

और कहानियों का आधिक्य है, नाटक, काव्य और महाकाव्य भी निष्फल रहे हैं। नाटक ने हिन्दी साहित्य का अभी तक भली भाँति अपनाया ही नहीं। इन सब का क्या कारण है ? संस्कृत, यूनानी, लेटिन अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच—सब भाषाएं अपने नाटक पर गौरव करती हैं। हिन्दी में इसका अभाव क्यों हुआ ? रामचरितमानस ऐसी पुस्तक इंग्लिस्तान में क्या नहीं लिखी गई ? बिहारीलाल और मतिराम इत्यादि सूरदास और तुलसीदास का मार्ग छोड़कर शृङ्गार में क्यों डूब गए ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न साहित्य-पाठकों तथा समालोचकों के हृदय में उठा करते हैं, किन्तु इनके उत्तर अति कठिन हैं।

तथापि विचार-दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि कुछ स्थायी और कुछ अल्पकालिक शक्तियां समय समय पर साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट किया करती हैं। इनमें मुख्य जाति, देश, काल तथा धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दशाएं हैं। फिर विशिष्ट लेखक की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दशाएं और उसके विचार और भाव हैं। जो कुछ तो परिस्थितियों पर निर्भर हैं और कुछ दैवी-संयोग या जीव-वैज्ञानिक घटना पर। उपर्युक्त शक्तियां लेखक के साहित्य-चक्र को एक निर्दिष्ट मार्ग पर चला देती हैं जिस पर वह अपने ढंग से कार्य किया करता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि काल के उपयुक्त न होने के कारण कितने ही महान पुरुषों का कीर्तिबीज उठने ही नहीं पाता। सम्भव है कि यदि बिहारीलाल अथवा मतिराम तुलसीदास अथवा सूरदास के समकालीन होते तो हिन्दी में शृङ्गार रस की कविता का यह रूप पद न होता जो इस समय है। उक्त कवि या तो इधर

उधर शृङ्गार लिये भटकते फिरते अथवा राम या कृष्ण की भक्ति में पड़ कर कुछ स्थान सुयश गा जाते। यदि तुलसीदास आजकल जन्म लिये होते तो सम्भव है कि एक छोटा मोटा आधुनिक पद्यकाव्य प्रियप्रवास जैसा बना जाते, किन्तु समाज को दंग कर देने वाले रामचरितमानस का नाम भी न सुनाई देता। अब उपर्युक्त पद-शक्तियों का प्रभाव एक एक को लेकर देखिये।

भिन्न भिन्न जातियों की कुछ अपनी विशेषताएँ हुआ करती हैं। आर्यों का शारीरिक स्वरूप, उनकी मानसिक बनावट और उनके भाव और विचार कुछ और हैं तथा द्राविड़ों के कुछ और। यूनानी कुछ और ढंग से जीवन तथा जीवन निर्वाह करते थे। रोमन्स कुछ और ही ढंग से। रूसी सभ्यता एक प्रकार की थी, तातार सभ्यता एक भिन्न ही प्रकार की थी। एंग्लो सैक्सन की रीतियाँ कुछ और थीं, नार्मन्स की कुछ और। इस प्रकार की भिन्नता शताब्दियों के परस्पर मेल जोल, रहन सहन, खान पान, विवाह इत्यादि के कारण जाती रहती है और देश काल आदि के प्रभाव से इन विशेषताओं में परिवर्तन हुआ करता है, किन्तु ऐसा परिवर्तन अथवा भिन्नता का लोप बहुत ही धीरे धीरे होता है। भारतवर्ष का इतिहास आर्यों से आरम्भ होता है। आर्य लोगों में तार्किक विचार शक्ति का प्राबल्य था इसी कारण से सांख्य,न्याय इत्यादि शास्त्रों की उत्पत्ति हुई। आर्यों के पश्चात् शक, यवन इत्यादि अनेक जातियाँ आईं, किन्तु उनकी संख्या थोड़ी थी और वे लोग इस देश के रहने वालों के साथ ऐसे मिल गए कि अपनी आत्म-विशेषता खो बैठे। यूनानी लोगों का प्रभाव भी बहुत कम रहा।

आठवीं शताब्दी से मुसलमानो का आना शुरू हुआ। मुसलमानों मे भिन्न भिन्न जातियां थीं। कुछ लोग अरबी थे। अरबों की सभ्यता सराहनीय थी। उनको पढने लिखने तथा सीखने सिखाने का बडा शौक था। उनका भारत के साहित्य पर विशेष प्रभाव हुआ। अरब वालों के पश्चात् अन्य मुसलमान जातियो ने भारत पर आक्रमण किया। साहित्य पर उनका प्रभाव यही पडा कि अशान्ति के कारण अधिक साहित्य तैयार न हो सका। हा धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनो ने कुछ प्रभावशाली साहित्य की उत्पत्ति अवश्य की। परन्तु जब मुगल आए तो इनकी बात और थी। इनमें फारस और तातार के रक्त मिले होने से बहुत सी विशेषताएं आ गई थीं। फिर हिन्दू रक्त भी मिला। एक तो मुगल उदार चित्त थे, इनकी उदारता ने हिन्दी साहित्य को बडी उन्नति दी। दूसरी विशेषता इनकी यह थी कि इनको सङ्गीत शिल्प, तथा चित्रकारी गृहनिर्माण का बडा शौक था। हिंदी साहित्य पर इनके गुणों का बडा प्रभाव पड़ा। शृङ्गार रस की अधिकाश कविता इन्हा के समय मे रची गई। इस सम्बध में एक और बात का ध्यान रखना चाहिये। हिंदू मस्तिष्क ज्ञान, विद्या तथा सिद्धान्त की ओर अधिक ढलता है, मुसलमान मस्तिष्क का व्यवहार की ओर अधिक झुकाव रहता है वह भाव की अपेक्षा बाहरी तडक-भडक की ओर अधिक ध्यान देता है। मुसलमान मस्तिष्क की इस प्रवृत्ति ने उस समय के साहित्य को भी बहुत प्रभावित किया है। कहा सूरदास और तुलसीदास की सीधी सादी भाषा जिसमें से भावों का आधिक्य फूट निकलता है। और कहा बिहारीलाल की चमचमाती मजी सजाई भाषा। बिहारी

ने तो खैर भाव भी रखा, किंतु इनके पश्चात् के बहुत कवियों ने केवल भाषा की रंगीनी ही दिखलाई है। तुलसी, सूर को छोड कर श्रृङ्गार के कवियों मे भी यही देख पडता है। विद्यापति की कविता देखिये—

"सखि हे की पूछसि अनुभव मोय।
मोइ पिरीति अनुराग बखानइत तिल तिल नूतन होय॥
जनम अवधि हम रूप निहारत नयन न तिरपित भेल।
मोइ मधुर बोल श्रवनहिं सून लों श्रुति पथे परस न बेल॥

मुख्य भाव किस सुन्दरता से दर्शाया है। इसके सामने यदि देव इत्यादि की कविता रखिये तो शब्दों की रंगीनी, भाषा का बनाव श्रृङ्गार, इधर उधर का सौन्दर्य साफ बतला देता है कि पिछली कविता किस समय में लिखी गई होगी। देव का केवल एक ही पद देखिये —"रगराती हरी हृदराती लता झुकि जाति समीर के झूकन सो"। मुगल राज्य मे मुगलों के कला-प्रेम और हिन्दुओ के ज्ञान-विज्ञान का अच्छा सयोग हुआ और कलाओं की वृद्धि हुई। काव्य कला ने भी उस समय बड़ी उन्नति की।

मुसलमानो का अपने धर्म और समाज की ओर तो विशेष ध्यान जाता है, किन्तु देश और मातृभूमि की ओर वे कम ध्यान देते हैं। मुसलमानी समय के हिन्दी साहित्य मे देशीयता तथा मातृभूमि अभिमान के अभाव का एक यह भी कारण था। समकालीन एलिजबेथन अग्रेजी साहित्य मे चारों ओर देशाभिमान दीख पडता है।

मुसलमनों के पश्चात् कोई जाति ऐसी नहीं आई जिसने भारत में अपना निवास-स्थान बना लिया हो। युरोपीय जातिया

आए और इन्होंने राज्य भी स्थापित किए, तथापि इन लोगों ने यहां के निवासियों के जीवन में अपना जीवन नहीं मिलाया। इस जाति के जीवन में जो तीन मुख्य विशेषताएं पाई जाती हैं जिन्होंने अपना प्रभाव हिन्दी पर डाला है। इनकी सभ्यता का प्रथम आधार विज्ञान है। वैज्ञानिक विचारों का एक फल गद्य है। अतएव वर्तमान काल में गद्य ही प्रधान है। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह जाति स्वतन्त्रता प्रिय है। शारीरिक और राजनैतिक स्वतन्त्रता इनके यहां का मुख्य उद्देश्य है। अतएव वर्तमान हिन्दी साहित्य में राजनैतिक बातों का और स्वतन्त्रता का अधिक उल्लेख है।

साहित्य का स्वरूप देश पर भी बहुत कुछ निर्भर है। देश से तात्पर्य वहाँ की भौगोलिक दशाओं, जलवायु पैदावार और जीवन निर्वाह के साधनों से है। हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में अलंकार अधिक होने का मुख्य कारण यही है कि भारत की स्वाभाविक मधुरता, प्रकृति की सर्वाङ्ग-सुन्दरता और शान्तिमय जीवन—सब ने मिलकर भाव, भाषा और रहन-सहन सब को आभूषित कर दिया है। अरब सदृश मरुभूमि में इस प्रकार का साहित्य न तो उत्पन्न हो सकता है और न उसकी वृद्धि हो सकती है। वहाँ के कसीदों में मरुभूमि का वर्णन रहता है। अतएव अरबी साहित्य में नाटक तथा यहाँ की तरह शृङ्गार इत्यादि रस की कविता का अभाव है।

देश के अतिरिक्त काल का विशेष प्रभाव पड़ता है। काल से तात्पर्य जाति, देश और सभ्यता का संयोग है। जैसे वैदिक-काल। साहित्य पर काल ने भी अपना पूरा असर डाला है।

वैदिक युग, पौराणिक युग तथा स्मृतिकाल की अपनी अपनी विशेषताएं प्रत्यक्ष है। वर्तमान काल के इतिहास मे भी यह प्रभाव प्रकट है। १८वीं शताब्दी का अंग्रेजी साहित्य १६वी और १७वीं शताब्दी का यूरोपीय साहित्य, मध्यकाल का इटलियन साहित्य तथा प्राचीन काल का यूनानी साहित्य—सभी एक एक विशेष काल की सूचना देते हैं। काल ने साहित्य को एक मार्ग बतलाया और साहित्य ने उस काल का चित्र उतारा।

जाति देश और काल के संयोग से एक प्रकार का निर्दिष्ट जीवन, व्यक्तिगत तथा सामाजिक, तैयार होता है। जैसे वैदिक भारत मे आर्यों का जीवन, मुगल भारत मे हिन्दू-मुसलमानों का जीवन, ट्यूडर इंगलैंड मे अंग्रेजों का जीवन एक विशेष रूप का था जिसका परिचय उस समय की दशाओं से मिलता है। इस प्रकार का परिचय साहित्य समझने के लिये अति आवश्यक है। तुलसीदास के समय का भारत कैसा था? राजा और प्रजा का परस्पर सम्बन्ध और व्यवहार किस प्रकार का था? लोग उनका कैसा सम्मान करते थे? और अरसों घाट पर बैठे बैठे वे कैसी बाते सोचा करते थे? इन सब का ज्ञान आवश्यक तथा रस-पूर्ण है। कवि लोग कविता कब और कैसे बनाया करते थे? उनके विचारो पर किन किन बातों का प्रभाव पडा करता था? उन्हे किस बात की अधिक चिन्ता रहा करती था? उनके जीवन का उद्देश्य क्या था? वे कैसा जीवन व्यतीत करते थे? और उन्हें कसी कसी कठिनाइयां झेलनी पडती थीं—इन सब ज्ञान साहित्य का स्वरूप, और समझने

अत्यावश्यक है। दूसरी ओर साहित्य पढ़ने से तत्कालीन जीवन का भी बहुत कुछ पता मिलता है। साहित्य एक प्रकार का दर्पण है जिसमें किसी समय का मनुष्य जीवन प्रतिबिम्बित होता है। भारत में राजपूतों का समय, सुलतानों का काल, मुगलों का जमाना, भारत के अध पतन का काल, मरहठों और सिक्खों की जाग्रति पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—सब कुछ साहित्य रूपी दर्पण में प्रत्यक्ष दीख पड़ता है।

निर्दिष्ट-जीवन की तीन मुख्य धाराएं होती हैं—धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक। इनका साहित्य से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह ससारिक इतिहास से प्रकट है। भारत की धार्मिक सामाजिक और राजनैतिक बातों पर ध्यान देकर हिन्दी की कुछ प्रसिद्ध काल विभागों की विख्यात धाराएं अध्ययन की जा सकती हैं। यों तो इन धाराओं को पृथक् करना न केवल असम्भव है बल्कि अनुचित भी है, क्योंकि एक काल की धाराओं का पहले और पिछले काल की धाराओं से अटूट सम्बन्ध है, फिर भी समझने के लिये उनको अलग अलग करना आवश्यक है।

हिन्दी की उत्पत्ति प्राकृतिक भाषा से जान पड़ती है और आरम्भिक हिन्दी में प्राकृत मिश्रित भी है। किस समय म हिन्दी का जन्म हुआ निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनुमान से यही सिद्ध होता है कि ७वीं शताब्दी से उसकी उत्पत्ति माननी चाहिए। तब से लेकर आज तक हिन्दी साहित्य का इतिहास ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) आरम्भ से लेकर सूरदास के पहले तक, अर्थात् ७वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक। इस काल के फिर तीन

विभाग हो सकते हैं—(क) आरम्भ से चन्दवरदाई और जल्हण तक, अर्थात् ७वीं शताब्दी से १२वीं शताब्दी के अन्त तक, (ख) जल्हण के बाद से कबीरदास के पहले तक, अर्थात् १३वीं, १४वीं शताब्दियां, (ग) कबीरदास से लेकर सूरदास के पहले तक अर्थात् १५वीं शताब्दी।

(२) सूरदास से लेकर तुलसीदास और केशवदास तक, अर्थात् १६वीं शताब्दी और १७वीं शताब्दी का आदि भाग। इस काल के दो विभाग हो सकते हैं—(क) सूरदास से लेकर तुलसीदास के पहले तक, अर्थात् १६वीं शताब्दी का अधिकाश भाग, (ख) तुलसीदास का समय अर्थात् १६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग और १७वीं का आदि भाग।

(३) तुलसीदास के बाद से लल्लूलाल जी के पहले तक, अर्थात् १७वीं शताब्दी के आदि भाग के बाद से १८वीं शताब्दी तक। इस काल के दो विभाग हो सकते हैं—(क) तुलसीदास के बाद से देव तक, अर्थात् १७वीं शताब्दी के आदि भाग के बाद से १८वीं शताब्दी के मध्य तक, (ख) देव के बाद से लल्लूलाल जी के पहले तक, अर्थात् १८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध भाग।

(४) लल्लूलाल जी से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक, अर्थात् १९वीं शताब्दी का लगभग दो तिहाई भाग।

(५) वर्तमान समय, हरिश्चन्द्र से लेकर वर्तमान समय तक।

प्रथम काल में पहले राजनैतिक दशा पर ध्यान देना चाहिये। महाराज हर्ष के बाद भारत में छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो गए और राजपूतों का समय आया। ये बहादुर योद्धा थे और छोटे छोटे [illegible] ते थे। अत उस समय का साहित्

अधिकतर दरबार के भाटों का बनाया हुआ है और उसमें अधिकतर राज्यवंश का प्रशंसात्मक वर्णन पाया जाता है, जैसे चन्द बरदाई और शारङ्गधर इत्यादि की रचनाओं में। उसके बाद भारतवर्ष में एक प्रकार का धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हुआ, जिसमें एक ईश्वर की भक्ति, आडम्बरों के त्याग और समाज के सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया गया। अतः उस समय का साहित्य इन बातों से भरा पड़ा है। जैसा कि कबीरदास, रैदास और नानक इत्यादि की रचनाओं से स्पष्ट है। ये लोग अपने मत का प्रचार करते थे, इसलिये इनको जनता की भाषा में रचना करनी पड़ी। इससे इनकी भाषा सरल और स्वाभाविक है और उसमें तत्कालीन समाज की तीव्र आलोचना है।

दूसरे काल में एक नये ढंग का धार्मिक आन्दोलन हुआ अर्थात् वैष्णव मत का प्रचार। इस मत की कई शाखाएं हैं। इसमें कृष्ण और राम की भक्ति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। कृष्ण की भक्ति बहुधा शृङ्गारमय हो जाती है। अतः इस समय के साहित्य में यही बातें मिलती हैं। सूरदास और तुलसीदास आदि बड़े बड़े महात्माओं ने इस काल में कविता की और हिन्दी साहित्य को भक्ति काव्य से गौरवान्वित किया, इस समय में एक ओर तो बड़े-बड़े ऋषियों और भक्तों ने कविता की दूसरी ओर मुगल दरबार के कवियों ने। उस समय तक अकबर ने भारत में एक प्रकार की राजनैतिक शान्ति पैदा कर दी थी।

तीसरे काल में उच्च धार्मिक विचारों में शिथिलता आई। जहाँगीर और शाहजहाँ का जमाना आया। चारों ओर कलाओं की

वृद्धि हुई, लोगों का ध्यान सौन्दर्य और शृङ्गार की ओर अधिक रहा। अत इस समय में काव्य कला की वृद्धि हुई। शृङ्गार रस का काव्य परमोत्कृष्टता को पहुँचा। भाषा भली भाँति श्रुति-मधुर और अलङ्कृत हो गई। इस काल में विहारीलाल मतिराम और देव इत्यादि कवि हुए। इसी बीच में फिर राजनैतिक अशान्ति का समय आया। शुरू में महाराज शिवाजी और छत्रसाल ने हिन्दू-पुनरुत्थान का झण्डा ऊँचा किया और बड़ी वीरता दिखलाई। इसकी वजह से हिन्दी साहित्य में वीर रस की उत्कृष्ट कविता निकली और भूषण इत्यादि कवि हुए किन्तु थोड़े दिनों में वीरता और जातीयता जाती रही अब शृङ्गार रस को पूरी स्वतन्त्रता मिल गई। न तो धार्मिक रोक ही रही और न समाज की उच्च दशा का दबाव ही रहा। अत कवियों ने साहित्य में खूब मनमाना शृंगार भरा और नायिका-भेद, नख शिख इत्यादि के अगण्य ग्रन्थ लिखे। इस समय के कवि भाषा तो खूब सजा सके, किन्तु वे भाव कहाँ से लाते, परिस्थिति उच्च भावों की न थी। इस समय के कवियों में दास, ठाकुर, बोधा इत्यादि हैं। तीसरे काल की एक विशेषता यह भी रही कि बहुत से राजा महाराजा स्वयं कविता करते थे और अन्य कवियों को आश्रय देते थे, इससे इस काल में बहुत से कवि हुए।

चौथे काल में पाश्चात्य सभ्यता ने अपना प्रभाव डाला। नए नए विचार आने लगे। जीवन के आदर्शों में परिवर्तन होने लगा। कुछ रहन सहन का ढंग बदला, शिक्षा की प्रथा बदलने लगी। इससे साहित्य में भी परिवर्तन हुआ और साहित्य की दो धाराएं हो गई। एक पुरानी और एक नई, किन्तु अभी पुरानी

रचयिताओं के सम्बन्ध में बहुत कम बातें ज्ञात हैं, बहुतों की जीवनी का कुछ पता ही नहीं इसका क्षेत्र कुछ सङ्कुचित है, इसमें सब विषयों का भली भाँति वर्णन नहीं हुआ है, विशेषत सासारिक वस्तुओं या व्यापार का वर्णन कम आया है, फिर भी वर्तमान समय मे उक्त कमिया पूरा हो रही हैं।

हिन्दी साहित्य से बहुत सी आशाएं की जा सकती हैं। वर्तमान समय मे हिन्दी का बहुत सरग प्रचार हो रहा है यहा तक कि योरप आदि देशों मे भी इसका पठन-पाठन होने लगा है। इस समय जब चारों ओर वस्तुवाद का डका बज रहा है और हानि लाभ का लेखा केवल सासारिक जीवन ही पर निर्भर है, एक ऐसे बल की आवश्यकता है जो मनुष्य के मस्तिष्क को वस्तुवाद से फेर कर अध्यात्मवाद की ओर ले जाय और सासारिक जीवन से उत्तर जीवन का दृश्य दिखलावे, किन्तु साथ ही साथ अध्यात्मवाद को नीरस न बनावे, और उसे पूर्णरीति से लोकप्रिय बनाए रखे। यह एक हिन्दी साहित्य सफलता के साथ कर सकता है, कर रहा है और करेगा। हिन्दी-साहित्य अपने विषय, भाषा तथा छन्द के कारण पढने सुनने और समझने मे ऐसा सरस हो गया है कि इसके पठन-पाठन मे जीवन आनन्दमय हो जाता है। हिन्दी साहित्य मनुष्य-जीवन को रसमय बनाते हुए सन्मार्ग पर ले चलने की पूरी शक्ति रखता है और आजकल विश्व में इसकी आवश्यकता है।

—रमाशङ्करप्रसाद

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली

आजकल की शिक्षा के सम्बन्ध में यदि किसी को अपनी सम्मति निश्चित करनी हो तो उसे चाहिए कि शाम को जाकर कालेज के नवयुवकों के झुण्ड में एकाएक घुस पड़े। यदि वह बूढ़ा है तो जाते ही नई रोशनी वाले नौजवान लोग उसे बेवकूफ बनाना शुरू कर देंगे और अगर कहीं वह अपनी अवस्था का हुआ तब भी वे लोग उसकी हँसी उड़ाए बिना न रहेंगे। सौभाग्य वश यदि कहीं यह आतिथ्य प्राप्त करने का अवसर न मिले और आप छिपे ही छिपे उनके पीछे चलते रहे तो आप को उनके विनोद तथा रुचि का भी नमूना मिल जायगा। आपस में [illegible] मजाक होंगे कि आप दङ्ग रह जायँगे, आप सोचने [illegible] सचमुच देश के नवयुवक क्या इसी प्रकार की [illegible] संसार और जाति की सेवा करने जा रहे हैं? [illegible] भी नहीं कि इन विद्यार्थियों का जीवन [illegible] और स्वास्थ्यपूर्ण है और मारे आह्लाद के उन्हें [illegible] नहीं। यदि आप उनके मुखमण्डल [illegible] तो कान्तिहीन पीले-पीले चेहरे [illegible] शरीर बरसात के मेंढकों की भाँति [illegible] से और [illegible]न। इस प्रकार [illegible] अच्छी [illegible] मानसिक। [illegible]

सरकारी नौकरियां कुल मिला कर मुश्किल से इतनी हैं कि सैकड़े पीछे एक आदमी को जगह मिल सके। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्दजी से किसी ने कहा था कि शिक्षित लोगों में इतनी बेकारी वैसे ही बढ़ रही है, आपके स्नातक गुरुकुल से निकल कर क्या करेंगे? उन्होंने उत्तर दिया कि हमारे विद्यार्थी क्या सरकारी नौकरी के लिए थोड़े ही लालायित हैं? इस दृष्टि से गुरुकुलों ने देश का बड़ा उपकार किया है, क्योंकि वहां से लौट कर नवयुवक अपने बूते पर कुछ न कुछ करते ही हैं, नौकरी के पीछे तो मारे-मारे नहीं फिरते।

यह हाल तो हमारे शिक्षित युवकों का अभी हो रहा है जब देश में पढ़े-लिखों की संख्या ५ प्रति सैकड़ा से भी कम है, कहीं जापान अथवा अमेरिका की भांति देश का प्रत्येक स्त्री पुरुष शिक्षित होता तो न जाने क्या हो जाता? इस सम्बन्ध से अमेरिका वालों का काम हमारे लिए अनुकरणीय है। वहां डिग्रीधारी लोग भी खेतों में अपने हाथों से काम करने में नहीं शरमाते। और शरमाएं क्यों? वहां तो खेती करने वाले ही लखपति और करोड़पति हैं। ठीक इस का उलटा भारतवर्ष में है, जहां बेचारे किसान जानवरों की तरह गाढ़े पसीने की कमाई करने पर भी भरपेट खाने को नहीं पाते। दूसरी बात यह है कि हमारी शिक्षा बिलकुल एकाङ्गी है। देहात के पढ़े-लिखे बेचारे शहरों में आकर मूर्ख बन जाते हैं और उधर शहरों के रहने वालों को गेहूँ के पेड़ पहचानने में भी कठिनता होती है। देहात तथा शहर वालों में परस्पर कोई भी सहानुभूति नहीं। और हो भी कैसे — ? ... भी तो नहीं है।

इङ्गलैण्ड आदि देशों में ऐसे फण्ड तथा सोसाइटियां स्थापित हैं, जिनका मुख्य काम लन्दन ऐसे बड़े शहरों के बालक-बालिकाओं को देहात का पूरा ज्ञान करा देना है, किन्तु अपने देश के अध्यापक सिवा लड़कों को ठोक पीट कर पाठ याद करा देने के और कुछ जानते ही नहीं। किया भी क्या जाय? यहां तो शिक्षा का ध्येय ही घोट घाट कर परीक्षाएं पास कर लेना है। एक अङ्गरेज सज्जन ने, जो बहुत दिनों तक भारत के सूबों में शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर रहे थे, इस देश की शिक्षा पद्धति पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसमें आपने प्राचीन गुरुओं के आदर्शों का उल्लेख करते हुए आजकल के अध्यापकों की दुर्दशा का वर्णन किया है। उनके कार्यों के विषय में आप कहते हैं—

"आजकल के अध्यापक नियमों के जाल में घिरे हुए 'कोड' सामने रख कर पढ़ाते हैं। बेचारों को समय समय पर रिपोर्ट भेजना, नियमों के अनुसार चलना और ऐसे इम्तहान लेना रहता है, जिनमें सैकड़ा पीछे कुछ संख्या का पास होना बाध्य है। और इन सब पर तुर्रा यह कि अकाल अथवा ताऊन से भी अधिक नियमित रूप से एक इन्सपेक्टर साहब भी आते हैं। ये दस पाँच मिनट के निरीक्षण से ही तुरन्त जान लेते हैं कि हां, कोई नियम भङ्ग नहीं हुआ है और कुछ न कुछ काम की बात ही पढ़ाई गई है।"

शिक्षा पद्धति की मेशीनरी के इस वास्तविक विवरण के पश्चात् आप ठीक ही कहते हैं कि—

"इस शिक्षा पद्धति में थिङ्ग, अरनाल्ड अथवा सेण्डर्सन ऐसे

लोगों का होना कल्पना में भी असम्भव है। इसलिए भारतवर्ष में शङ्कर, कबीर अथवा टैगोर ऐसे विद्वानों की सृष्टि नहीं हो सकती। ऐसी शिक्षा से दिमागदी लोग ही तैयार किए जाते हैं जो कायदे कानून के अतिरिक्त इन्सपेक्टरों की व्यक्तिगत सनक तथा सनक से परिचित रहते हैं और जिनके लिए विद्यार्थी बेचारे जीवित प्राणी नहीं, सेक्शन की गिनती पूरी करने के लिए संख्या मात्र का काम करते हैं।"

लेखक ने आधुनिक स्कूलों का कैसा सच्चा चित्र खींचा है। इस प्रणाली के प्रवर्तक लॉर्ड मकॉले ने भारतवर्ष का जो अनिष्ट किया है वह इस देश पर चढ़ाई करने वाली किसी सेना ने नहीं। सन १८५४ के शिक्षा सम्बन्धी डिस्पैच में ही उस कूटनीतिज्ञ ने ऐसी प्रणाली के परिणामों की कल्पना कर ली थी। उसने स्पष्ट लिखा था कि हमें अब ऐसे शिक्षित भारतीयों की आवश्यकता है, जो रूप-रंग में हिन्दुस्तानी पर दिल व दिमाग में पूरे अंगरेज हों। फल इसका यह हुआ कि आज हम लोग न तो हिन्दुस्तानी ही रहे और न पूरे अंगरेज ही बन पाए। जहाँ हम में परतन्त्रता-पीडित जाति के सभी दुर्गुण आ गए हैं वहाँ हमने अपने भाग्य-विधाताओं के केवल बाह्य-आडम्बरों की ही नकल करना सीखा है। बात यह है कि गुलामी की बेड़ी में जकड़ी हुई जाति का दृष्टिकोण ही बदल जाता है, न तो उसमें अपने देश की परिपाटी का ज्ञान रह जाता है और न अपने धर्म की परवा। यही हाल भारतवर्ष का भी हुआ। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी के जमाने में इधर उधर अंगरेजी स्कूल स्थापित होने लगे, तो इनके संचालकों का उद्देश्य लार्ड मकाले के निर्देश किए हुए मार्ग पर

चलना मात्र था। इनमे अधिकांश संस्थाएँ तो पादरियों की देख-रेख में थीं, जिनका मुख्य ध्येय अपने धर्म का प्रचार करना था। देश मे आज भी कितने ही मिशन-स्कूल हैं, जिनमे बाइबल पढना तथा ईसाई प्रार्थनाओं मे उपस्थित होना सब के लिए आवश्यक रहता है—चाहे वे हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, अथवा पारसी कोई भी हो! धार्मिक कट्टरता का यह अङ्ग अङ्गरेजों और ईसाइयों में सराहनीय है, पर हमारी हिन्दू संस्थाओं का क्या हाल है? यहाँ तो धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन होता ही नही। हाँ, प्रार्थना की रसम भले ही अदा हो जाती है, उसमें भी न कोई पद्धति रहती है और न सब लोग उपस्थित ही रहने की परवा करते हैं। अध्यापक स्वयं उसकी हँसी उड़ाते हैं और विद्यार्थी तो बेगार समझकर उसमें जाते ही नहीं।

धार्मिक-शिक्षा को हम लोगों ने आकर्षक बनाना सीखा ही नहीं है। इसीलिए या तो वह होती ही नहीं या जहाँ होती है, पाण्डित्य पूर्ण उपदेश का रूप धारण कर लेती है। इस विषय मे हमें पादरियों से बहुत-कुछ सीखना है, क्योंकि उनमें रहन-सहन की उदारता तथा धार्मिक कट्टरता का अच्छा समावेश पाया जाता है। ठीक इसका उलटा हमारे समाज का हाल है—हमारे पढ़े लिखे लोग या तो नितान्त पुराने ढर्रे के कट्टर होते हैं अथवा पूरे निरीश्वरवादी साहब। पहली श्रेणी वालों की एक तो संख्या बहुत कम है, दूसरे दिन दिन उसकी आवश्यकता भी कम होती जा रही है। बीसवीं शताब्दी के लिए तो ये लोग एक दम अनुपयुक्त सिद्ध हो चुके हैं और इसीलिए अपनी अर्वाचीन शिक्षा से कुछ लाभ उठा नहीं पाते। रही दूसरी श्रेणी वालों की

बात, ये लोग हिन्दू-धर्म के उतने ही पक्षपाती तथा अनुयायी कहे जा सकते हैं, जितने किसी और धर्म के। इनके लिए प्राचीन बातें सभी ढोंग होती हैं और अर्वाचीन सार्वभौमिकता के आवेश में इतने निमग्न रहते हैं कि सामाजिक बन्धन इनको किसी बात से रोक ही नहीं सकता। खेद तो यह है कि इस प्रकार का जीवन उनका तभी से बन जाता है, जब वे ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थी रहते हैं। फल यह होता है कि प्रथम श्रेणी वाले लोग तो घोंट्र और मनहूस हो जाते हैं, जिन्हें सामाजिक धन्धों से कुछ प्रयोजन ही नहीं रह जाता और इसके प्रतिकूल दूसरी कोटि के लोग नितान्त सामाजिक प्राणी बन जाते हैं। उनके लिए विद्योपार्जन अथवा किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करना इतना आवश्यक नहीं जितना भले आदमियों में उठना बठना, समाज की दृष्टि में सभ्य हो जाना अथवा सिनेमा थियेटर जाना। उन्हें तो ज्यों त्यों करके डिग्री मिल जानी चाहिए, क्योंकि उनकी आँखों में डिग्री ही का अधिक गौरव है, वही सभ्यता अथवा ज्ञान की सर्व-स्वीकृत मोहर है। उनके लिए तो—और उनके लिए ही क्यों, आजकल सभी विद्यार्थियों के लिए—गृहस्थ-जीवन और विद्यार्थी-जीवन में कुछ भेद ही नहीं रहता। खाने-पीने, रहन-सहन तथा शौक़ और फैशन में आजकल के विद्यार्थी उतने ही स्वतन्त्र हैं जितने और लोग। हम यह नहीं कहते कि जैसा मनु ने लिखा है, आजकल के विद्यार्थी हजामत न बनवाएँ, जूता अथवा माला आदि न पहनें, अथवा तेल-फुलेल न लगावें—क्योंकि बड़े-बड़े नगरों में रहकर इन बिना यह सम्भव ही नहीं है—पर हाँ, यह अनुचित सीमा है कि दिन

भर में कई सूट बदले जाएँ, रोज घण्टा-भर हजामत मे गुजरे और नित्य सिनेमा मे पैसे खराब किए जाए । मैं तो कितने ही कालेजों के छात्रों को जानता हूँ जो महीने में बीस पचीस रुपये थिएटर के पीछे खर्च करते हैं और काले से गोरे हो जाने के लिए रोज बहुत सा समय मल-मल कर साबुन लगाने और आइना देखने ही में नष्ट करते हैं। इन बेचारो की समझ मे यह नहीं आता कि सच्चा सौन्दर्य हृष्ट-पुष्ट शरीर और सरलजीवन मे है, महीने मे दस बारह रुपये स्नो क्रीम, पॉमेड हेजलीन आदि मे खर्च करने से ही यह बाजार में मोल नही मिल जाता। पैदल चलना इनके लिए शान के खिलाफ है, चाहे साइकल पर दौडते-दौडते रोगी भले ही हो जाय। शान ही नहीं, इनमें स्त्री सुलभ लज्जा की भी बहुत मात्रा आ जाती है और शायद ही किसी को आप धूप म नगे बदन बठे देख सकें। बन्द कमरों मे नहाना और जहाँ तक हो सब शरीर का प्रत्येक अग कपडों से ढक रखना—ये शिक्षितों क शरीर विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों में से है। उन्हें शायद यह नहीं मालूम कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के कमीशन में सर माइकल सेडलर जब सर आशुतोष मुकर्जी के यहाँ परामर्श करने आया करते, तो मुकर्जी महोदय कभी-कभी यों ही धूप मे नङ्गे बदन चोकी पर बैठे बैठे नौकरों से कडुवा तेल मलवाया करते थे। उधर सर माइकेल कुर्सी पर बैठते और दूसरी ओर सर आशुतोष बैठे घण्टों तेल सुखाते रहते—इसी प्रकार दोनों विद्वानों में वाद विवाद चलता रहता।

इतना ही नहीं, हमारे नवयुवकों मे अपनी मातृभाषा अपने पूर्वजों के प्रति घृणा सी उत्पन्न हो जाती है

यह नहीं कहते कि हम लकीर के फकीर बने रहें अथवा "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति" वाला उदाहरण अनुकरण करें पर क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि शिक्षितों को हिन्दी बोलने अथवा हिन्दुस्तानी तिथियों और महीनों के याद रखने में शरम लगती है। अधिकतर ये लोग पिता को 'फादर' माता को 'मदर' बहिन को 'सिस्टर' और स्त्री को 'वाइफ' ही कहेंगे, चाहे बातचीत हिन्दी में ही करते हों। ये सब शब्द 'प्राइवेट' समझे जाते हैं और सभी प्राइवेट बातों को अंगरेजी में कहना भी इनकी शान में शामिल है। शान के इसी भाव के कारण पढ़े-लिखों में पाखण्ड भी आ जाता है, उदाहरण के लिए विद्यार्थियों को यह दिखाने में आनन्द आता है कि वे कभी पढ़ते नहीं, यों ही प्रतिभा के बल पास हो जाते हैं, अथवा लोग उन्हें जितना धनी समझते हैं, उससे वे कहीं अधिक मालदार हैं। जहा पहले विद्यार्थियों की शान परिश्रम से पढ़ने और सीधे-सादे रहने में थी, वहा अब कम पढ़ने और अलबेला बन कर घूमने फिरने में है। इसका मुख्य कारण बडे-बडे नगरों में रह कर पाश्चात्य सभ्यता तथा विलासिता पूर्ण समाज के बडे बडे प्रलोभनों की चकाचौंध में पड जाना होता है। इसीलिए तो प्राचीनकाल के गुरुकुल शहरों से दूर प्रकृति की स्वतन्त्र क्रीडास्थली में रक्खे जाते थे, जहा विकासमान मानव हृदय को इन प्रलोभनों में फँसने का अवसर ही नहीं मिलता था। काशी विश्व विद्यालय की स्थापना शहर से दूर अवश्य हुई है, पर वहा भी छात्रों को महलों में रहने का अवसर दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि वे अपने गावों में लौट कर वहा के जीवन से असन्तोष तथा

घृणा प्रकट करने लगते हैं।

दूसरा भीषण रोग, जो हमारे शिक्षित नवयुवकों में प्रचण्ड रूप से बढ़ रहा है, कुत्सित तथा अस्वाभाविक प्रेम है, जिसका विवरण देना भी लज्जाजनक है। जितनी ही जल्दी समाज इन भयावह एवं संक्रामक रोगों से परिचित हो जाय उतना ही कल्याण होगा। इस जघन्य लहर के बढ़ने के दो मुख्य कारण हैं। एक तो धार्मिक शिक्षा का अभाव और दूसरा सामाजिक नियन्त्रण की उदासीनता। इस रोग की निवृत्ति तब तक न होगी जब तक स्कूलों और कालेजों के छात्रों के जीवन में सरलता और दृढ़ता का प्रचार न किया जाय। यदि ऐसा न हो सके तो ऐसी शिक्षा से तो अशिक्षित रहना ही अच्छा है। हमारा विचार है कि शिक्षितों की नज़ाकत और उनके नाज-नखरे बहुत कुछ कम हो जाय, यदि सैनिक शिक्षा सब के लिये बाध्य कर दी जाय। इससे शिक्षितों में रुखाई और सिपाहीपन आजायगा।

सभी मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक दुर्बलताओं के कारण ही तो हमारे नवयुवक आगे चलकर जीवन में कुछ कर नहीं सकते। वे संसार में मारे मारे फिरते हैं और उन्हें कोई काम नहीं मिलता। बहुत से तो काम करने के योग्य होते भी नहीं। उधर नौकरियों के स्थान तथा वकालत आदि पेशे ठसाठस भरे पड़े हैं।

शिक्षितों की यह दशा बहुत दयनीय है और इसकी दो ही औषधियां हैं। एक तो यह कि उच्च शिक्षा के लिए केवल उन्हीं लोगों को भरती किया जाय जो इतने प्रतिभावान् हों कि देश तथा समाज की सेवा कर सकें और दूसरी यह कि कृषि,

इञ्जीनियरी आदि पेशेवाली शिक्षा का अधिक प्रचार हो। कुछ समय हुआ पञ्जाब गवर्नमेण्ट ने पढ़े-लिखों की बेकारी की समस्या सुलझाने के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी। उस कमेटी ने तो यह प्रस्ताव किया था कि उच्च शिक्षा इतनी असाध्य बना दी जाय कि साधारण लोग उसमें जा ही न सकें, पर इस तरह तो केवल धनाढ्य ही उससे लाभ उठा सकेंगे। होना यह चाहिये कि जो युवक आगे चलकर अपने विचार, बल तथा मस्तिष्क से कुछ मौलिक कार्य कर सकें, वे तो ऊँची डिग्रियां भले ही प्राप्त करें पर जन-साधारण में जीवनोपयोगी शिक्षा की मात्रा अधिक करने का प्रयत्न हो। आजकल हमारा ध्येय यह हो गया है कि सभी ग्रेजुएट हो जायँ और जीवन का अधिक भाग डिग्रियों के पीछे ही बिता दें। इसमें समय भी अधिक लगता है और काम भी थोड़ा होता है, तत्त्वज्ञान नहीं हो पाता, जिसका एक कारण यह भी है कि मातृभाषा द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती। जापान में ऊँचे-ऊँचे कर्मचारियों के लिये ही थोड़ी-बहुत काम चलाऊ अगरेजी जानना आवश्यक होता है, पर अधिकतर वहाँ का काम मातृभाषा में ही होता है। वहा १८६९ में शिक्षा अनिवार्य की गई थी और आज प्रत्येक जापानी स्त्री पुरुष शिक्षित है।

सच्ची राष्ट्रीय शिक्षा का आदर्श भी यही है कि देश का प्रत्येक साधारण मनुष्य आधुनिक जीवन निर्वाह के काम की सभी बातें जाने। हमारे देश और यूरोप अमेरिका में विशेष अन्तर यही है कि एक ओर तो हमारे सर्वश्रेष्ठ ग्रेजुएट वहा के डिग्रीधारियों के तुल्य हैं, परन्तु दूसरी ओर एक साधारण

अपने प्रकाशमय अतीतका स्मरण कराकर—उन्नति के साधनों को सुझाकर उद्योगके लिए उत्साह-प्रदान करता है, और उन्नत जातियों समझकर चलनेकी राह दिखाता है—उसे उस रास्ते पर चलनेसे बचाता है, जिस पर चलकर अनेक मदान्ध जातियों का नाम निशान तक मिट गया। इतिहासके बिना संसार अमल्य आखें होते हुए भी अन्धा ही है। 'राजतरङ्गिणी'-कार काश्मीर के महाकवि 'जल्हण' ने सत्कविके कृत्य—(इतिहास)—की प्रशंसा में क्या अच्छा कहा है—

"यद्यासन्निभ-कुम्भशायित पदा येऽपि श्रिय लेभिरे,
यपामप्यवसन् पुरा युवतयो गेहेष्वहश्चन्द्रिका ।
तॉल्लोकोयमवैति लोक-तिलकान् स्वप्नेप्यजातानिव,
भ्रात सत्कविकृत्य ! किं स्तुतिशतैरन्ध जगत्त्वाविना ॥"

अर्थात्—जिनके द्वारपर हाथियोंके झुण्ड झूमते थे, जो मस्त हाथियोंके मस्तक पर पर रखकर स्वच्छन्द विचरते थे, जिन्होंने बाहु बलसे राज्य-लक्ष्मीको वशमें करके 'गृहदासी' बनाया था, जिनके महलोंमें गृह लक्ष्मियां अपने 'आसेचनक' अलौकिक आलोक से दिनमें भी चांदनी छिटकाए रहती थीं, उन सौभाग्यशाली, लोकतिलक, परमपराक्रमी, स्मरणीय महापुरुषों को भी यह कृतघ्न और विस्मरणशील संसार स्वप्नके समान भूल जाता है—भूलकर भी कभी याद नहीं करता कि वे भी, कभी, कहीं, कोई, थे ! जिसके न होने से यह सब हो जाता है ! भाई, सत्कवि कृत्य इतिहास ! तुम धन्य हो तुम्हारी तारीफ कहां तक करें, सचमुच यह संसार तुम्हारे बिना निपट अन्धा है ! तुम्हीं सब लोक मात्रके 'जगच्चक्षु' हो अतीतका स्मरण कराने वाले—भूतको

वर्तमान के रूप में प्रत्यक्ष दिखाने वाले एक तुम्हीं हो।

अवनति के गहरे गर्त्त में गिरी हुई जाति को उठाने के लिए इतिहास ही प्रधान साधन है। इतिहास की महिमा अद्भुत है। इतिहास जराजीर्ण जाति के लिए सञ्जीवन रसायन है, मोहान्ध-समाज की आखें खोलने वाला सिद्धाञ्जन है। आर्यजाति को अवनत करने वाले अन्य कारणों मे से इतिहास का अभाव भी एक कारण रहा है। अपने जातीय इतिहास को भूलकर कोई देश और समाज जीवित नहीं रह सकता—सभ्य नहीं कहला सकता।

'कौमर्की तारीखसे जो बेखबर हो जायगा,
रफ्ता-रफ्ता आदमीयत खोके खर हो जायगा।"—

खरतासे बचने और 'मनुष्यता' सम्पादन करनेके लिए इतिहासका अध्ययन अनिवार्य है—नितान्त आवश्यक है। उत्तम इतिहासकी जहाँ इतनी महिमा है, वहाँ बुरे इतिहासका परिणाम भी बडा भयकर है। नीच वृत्तिके पक्षपाती इतिहास लेखक कभी-कभी वैर-विरोध के विष का ऐसा बीज बो जाते हैं, जिसका फल केवल उन्हें ही नहीं, जिनके साथ यह अन्याय किया गया है, स्वय उन मानव-कुल-कलक इतिहास-लेखकोंके परवर्ती वशजोंको भी पीछे सदियों तक भोगना पडता है। मतान्धताकी आधीमे पडकर बडे बडे बहक जाते हैं—तास्सुब और हठधर्मी की शह पाकर 'फरिश्ते' भी शैतान के कान काटने लगते हैं। हिन्दू मुसलमानों के वर्तमान वैर विरोध में इतिहासों के पुराने पक्षपात-पूरित पोथे भी प्रधान कारण हैं। उन्हें पढकर हमारे मुसलमान भाई आज भी वही पुराना स्वप्न देखते हैं—

'महमूद गजनवी' बनकर काफिर हिन्दुओंको 'जहन्नुम रसीद' करना चाहते हैं। इधर हिन्दू भी विधर्मी म्लेच्छोंके उन अत्याचारोंको याद करके कुढ़ते हैं। परस्परकी इस दूषित मनोवृत्ति को बदलनेके लिए सच्चे इतिहासकी कितनी आवश्यकता है, यह किसी भी विचारशील देश हितैषीसे छिपा नहीं है। इतिहासके अध्ययनसे बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ अनायास दूर हो जाती हैं। आजकल बौद्धधर्म और बौद्धधर्मी शासकोंकी श्रेष्ठताके गीत गानेका एक फैशन सा हो गया है जिसे हमारे बहुतसे वक्ता और लेखक बार बार दोहरा रहे हैं। बौद्धधर्मके ह्रासका कारण उन्हें हिन्दू धर्मियों का अत्याचार और बौद्ध-मत विद्वेष ही प्रतीत होता है। वे समझते हैं कि श्रीशङ्कराचार्य ने और उनके अनेक अनुयायी लोगोंने ही बौद्धधर्मको भारतसे निर्वासित किया है। इसके लिए न जाने कितनी कल्पित कथाएँ गढ़ रखी हैं। कोई कहता है—'लाखों बौद्धोंको जहाजोंमें भर-भरकर डुबो दिया गया।' कोई कहता है—'हाथ-पाँव बाँध-बाँध कर आगमें झोंक दिया।' इस प्रकार हत्यारे हिन्दुओंने बौद्धों का और बौद्धमतका विनाश कर दिया। जो बौद्ध जान लेकर भारतसे बाहर भाग गए वे बच गए, जो यहाँ घिर गए वे मर-खप गए। मानो यह बौद्धमतके विनाश का सच्चा और सचित्र इतिहास है जिसका प्रचार बड़े जोरसे आज सर्वत्र किया जा रहा है, जिसे पढ़ सुनकर बौद्धों पर दया और हिन्दुओं से घृणा उत्पन्न होती है, पर एक ऐतिहासिक दर्शक जब इतिहासकी दूर-बीनसे देखता है, तो उसे कुछ और ही दृश्य दिखाई देता है। वह घबराकर पुकार उठता है, अरे यह क्या ?—

'मैं इलज़ाम 'उनको' देता था क़सूर 'इनका' निकल आया।"

सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान श्री राखालदास बन्द्योपाध्याय के 'करुणा' और 'शशांक' ऐतिहासिक उपन्यास, इस घटना म प्रमाण हैं। मतलब यह कि सच्चे इतिहासका जितना प्रचार होगा, उतनी ही भ्रान्त धारणाएं दूर होंगी, लोगों की आँखें खुलेंगी, अन्धकार हटेगा, प्रकाश फैलेगा।

मध्यकालके यथार्थ इतिहाससे अतीत भारतका वह सुहावना दृश्य आँखोंके सामने आ जाता है, जिसे ध्यान मे लाने पर आजकलकी शिक्षा-दीक्षासे पला हुआ वर्तमान उन्नति और सामयिक सभ्यताको ही सुखका सर्वोत्कृष्ट साधन समझने वाला, वदेशिक इतिहासकारोंके मायाजालमें पड़कर अपने स्वरूपको भूला हुआ—प्राचीन भारतको अवनत और असभ्य, सब प्रकारकी उन्नतिसे रहित समझने वाला नई रोशनीका परवाना पाठक भी—(यदि उसमें ज़रा भी सहृदयता और समझ बूझ बाकी रह गई है)—वर्तमान समय की सभ्यता पिशाचीके सर्व-संहारी उन्नति-चक्रसे चिल्लाकर—पुकार कर कह उठता है—

'लौट पीछे की तरफ़, ऐ गर्दिशे, अय्याम ! तू"।

वह वर्तमान सभ्यता की छत्र-छाया छोड कर उन्नतिके इस आकाशके नीचेसे निकल भागना चाहता है, पर लाचारीसे यह कह कर, मन मारकर—रह जाता है—

"फ़लकके नीचेसे हम तो कभीके,
निकल जाते मगर रस्ता न पाया" !

बाज़ आये, इस वर्तमान कालीन उन्नति और सभ्यता से, इससे तो वह मध्यकालीन 'अवनति' और 'असभ्यता' ही कहीं

अच्छी थी।

रेल, तार, मोटर और हवाई जहाज, उस समय बेशक न थे, पर भारत सब प्रकार से सुखी था, चैन की बंशी बजाता था। ऐसा दुःखी और पराधीन तो कभी, किसी समय में भी न था। इस सभ्यता और उन्नति को लेकर क्या करें, जिसमें भरपेट भोजन और तन ढकने को कपड़ा भी नहीं मिलता। प्राचीन 'असभ्य' संसार के 'वहशी लुटेरों' से वर्तमान 'सभ्य' संसार के 'सुशासक' कितने 'परदुःखकातर' और 'दयालु' हैं! इस बात को सामान्यतः सारे संसार का–विशेषतः भारतवर्ष का–इतिहास अपने हाल से बड़े ही करुण स्वर में पुकार पुकार कह रहा है।*

—पद्मसिंह शर्मा

* शर्मा जी के 'हिन्दुस्तानी एकाडेमी की दो पुस्तकें' नामक एक समालोचनात्मक विस्तृत लेख का थोड़ा सा अंश।

वैसे ही व्यर्थ परिश्रम होगा जैसे सारा दिन पहाड खोद खोद कर अन्त में चूहा हाथ लगे और मनुष्य यह कह कर सन्ताप धारण कर ले कि अच्छा है, लाज तो रह गयी ?

नहीं, यह बात नहीं है। वास्तव में मनुष्य समाज की उन्नति मोटरों की दौड से या बिजली की चमक और भिन्न भिन्न प्रकार के यंत्रों के आश्चर्य-जनक चमत्कारों से मापना कठिन है। मनुष्य सदा से अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार प्रकृति का भोग करते आये है। ज्यों ज्यों अधिक बहिर्मुख होकर, वह अपनी तृष्णा को विशाल करते हैं, प्रकृति देवी भी अधिकाधिक हाव भाव के जटिल जाल का विस्तार करता हुई, एक ओर से तो उन्हें खींचे चली जाती है, और, दूसरी ओर से, ज्योंही वे आगे बढते हैं वह भी आगे आगे दौडी चली जाती है। सैकडों नये नये मार्गों पर सहस्रों नये नये दृश्यों को देख कर मनुष्य चकित हो जाते हैं। अन्त मे कोई किसी मे और कोई किसी में रह जाता है।

प्रत्येक युग मे धन से प्रेम करने वाले और विद्या से उदासीन विद्या से प्यार करने वाले और सम्पत्ति से विमुख तथा धन और विद्या दोनों की ओर झुके हुए लोग रहा ही करते हैं। एक समय मे एक समुदाय बलवान बन जाता है और दूसरे समय मे दूसरे प्रकार के लोगो की बारी आती है। इस बात को ध्यान मे रख कर जब हम इतिहास के पन्ने उलटते हैं तो सर्वत्र समय समय पर भिन्न भिन्न तरंगें उमडती हुई देख पडती हैं। इनके बहाव मे ही ससार बहा करता है। दूसरे शब्दों मे इसी बात को यों कह सकते हैं कि जन-समुदाय के सम्मुख

आदर्श बदल बदल कर रक्खे जाते रहते हैं।

समाज की रचना के अनुसार मनुष्य का स्वभाव भी परिवर्तन प्रिय है। एक आदर्श के पीछे दूसरे का पर्याय आता है। यही कारण है कि संसार चक्र में भिन्न भिन्न चक्र चल कर प्रत्येक विचार को जनता के सामने आने के लिये एक से अधिक बार अवसर मिलता है। इन भिन्न भिन्न विचारों के साथ सारी परिस्थितियां भी नये सिरे से प्रकट होती हैं। यदि विशेष बाधाएं उपस्थित न हों, तो पूर्ण विश्वास से कहा जाता है कि उसी प्रकार की घटनाएं भी होती रहती हैं। इसी नियम को विद्वान लोग इतिहास के पुनरावर्तन के नाम से स्मरण करते हैं।

आजकल विकासवाद का सिद्धान्त विजयी हो रहा है। कोई भी शास्त्र क्यों न हो इसी के रंग में रंगा हुआ विद्वानों के मुखारविन्द से निकलता और सुनने वालों के कानों में पड़ता है। सब विज्ञान और सब कलाएं इसीका गुणगान कर रही हैं। सब दर्शन और सब विज्ञान इसी के पास की ओर माथा झुकाये हुए नीची आंखा ताकते हैं। सब मत और सब सम्प्रदाय, गणों के गण, इसीके चारों ओर घेरा डाले पड़े हैं। प्रत्येक जीवन-धर भाग रहा है सिर रगड़ रगड़ कर और इसीकी पाद रज मस्तक पर रमा रमा कर, इस देवों के देव के आदेश की बाट जोहता है। प्रत्येक करुण-विलाप करता हुआ सुनाई पड़ता है। "हे देव! कृपा करना, मेरा सब मान गुमान तुम्हारे प्रमाण पत्र के बिना मुरझाया जाता है। यह सिर का हिलाना बन्द करो,

नहीं तो मेरी ग्रीवा पर एक बाल के सहारे लटकती हुई तीक्ष्ण असि अरा अब पड़ी कि अब पड़ी। मेरे प्राण सङ्कट में हैं। मेरी आँखें पथराई जाती हैं। मेरा जी गिरता और दिल धड़कता है। कानों में साएँ साएँ की शुष्क ध्वनि और अंगों में शिथिलता बढ़ती चली जाती है। मेरा नाक ठण्डा पड़ रहा है। कर आगे कर मेरे मन्द श्वास को मेरे बन्धु गण देख भाल रहे हैं। गले में घिग्घी बंध गयी है। हा, प्रभो! मैं डूबा जा रहा हूँ। बचाओ बचाओ, मेरे सर्वस्व तुम हो। जीवन तुम हो। माई-बाप तुम हो। तुम्हारे एक शब्द में मेरी जीवन-घुट्टी है। क्या करो, क्या करो।" ये शब्द हैं जो प्रत्येक के मुँह से काँपते हुए निकल रहे हैं। यह देवता सुगमता से प्रसन्न होने वाला नहीं।

थोड़े से शब्दों में इस सिद्धान्त का सार यह है। संसार उन्नति शील है। प्रत्येक विभाग में उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। क्या प्राकृतिक और क्या मानसिक, सामाजिक अथवा आत्मिक जीवन के अंगों में कल से आज और आज से आने वाला दिन आगे है। पशु, पक्षियों का शरीर मनुष्य के शरीर का एक प्रकार से पूर्वरूप है। काल क्रम से परिस्थिति के परिवर्त्तन हो जाने के कारण, शीतोष्ण के प्रभाव से अंग, प्रत्यंग घट बढ़ कर, झड़ कर और बढ़ कर, लम्बे, छोटे और गोल होकर अर्थात् भान्ति भान्ति के परिवर्तनों में से गुज़रते हुए वर्त्तमान भिन्न भिन्न जातियों की देह का निर्माण हुआ है। मानुष-काया सब से बढ़ कर सूक्ष्म, अतएव उत्क्रान्ति-युक्त है। मछली और मेंढक के, हाथी और सिंह के, भेड़ और बकरी के, गौ और घोड़े के, कुक्कड़ और मोर के स्मारक कुछ न कुछ अंश

इसमें विद्यमान हैं।

आरम्भ में मनुष्य का मस्तिष्क अनुभव तथा शिक्षा के अभाव के कारण बहुत दूर की न सोच सकता था। शनै शनै उसकी सार ग्रहण करने वाली सूक्ष्म शक्तियां पदार्थों के अन्दर घुसने लगीं। पक्षियों की चीं चीं और चां चां से, भेड़, बकरियों की मैं में से, गौ और भैंस की बां बां से, जंगल के सूखे पत्तों की सर सर से, झाड़ियों और वृक्षों के झुरमुटों में झंझावात के प्रकोप से पैदा होने वाले झंकार से बादलों की गरज से और बिजली की कड़क से बोलना सीख कर, उसने लाखों भेदों में विभक्त बोलियां और सहस्रों भिन्न भिन्न भाषाओं का क्या विस्तृत ढांचा बना लिया है! मैं और तू के दो शब्दों के कोष का विस्तार कोषों में भी न समाने वाले वाङ्मय के रूप में हो गया है और नित्य बढ़ता चला जा रहा है। अच्छी अच्छी कविताएं, दिल बहलाने वाली और शिक्षा देने वाली कथाएं, बड़े बड़े मनोरञ्जक उपन्यास नये से नये नाटक और उत्तमोत्तम सार वस्तु से भरपूर पुस्तकों की मालाएं आज मनुष्य के साहित्य-सदन की शोभा को चार चांद लगा रही हैं।

पहले पहल मनुष्य सूर्य और चांद को देखकर आश्चर्य करता था कि यह तेज और शीतल प्रकाश के गोले कहां से आ जाते हैं। प्रात और सायं की लाली, पूर्णमासी की चान्दनी से उज्ज्वल तथा अमावस्या के अगाध अन्धकार से छायी हुई रात का दृश्य नाचते और कूदते हुए तारागण की सुन्दरता, उसकी हैरानी के लिए पर्याप्त सामग्री थी। विशाल पर्वतों पर ऊँचे-ऊँचे वृक्ष, गड गड करते हुए पर्वतों के झरने, ठाठें मारती

पुराने दर्शनकारों की तर्कक्रिया कवि सम्राटों के वाणी विलास, व्याकरण तथा निरुक्तशास्त्र के बनाने वालों की भाषाविज्ञान में निपुणता शिल्पियों के शिल्प, महात्माओं की तपस्या और आत्मिक बल के वृत्तान्त—ये बातें देख देख कर इसी परिणाम पर मनुष्य पहुँचता है कि जहां तक मनुष्य का सम्बन्ध है, उन्नति के आदर्श में लाखों वर्षों से कोई विकास नहीं हुआ। दूसरे विचार में भी इसी प्रकार अत्युक्ति से काम लिया गया है।

कोई पदार्थ पूर्ण नहीं। गुण तथा दोष की परीक्षा कर, गुण का ग्रहण तथा दोष का त्याग करना चाहिये। प्रत्येक सभ्यता में, जो संसार में कुछ काल के लिए राज्य करती है, कुछ गुण पाये जाते हैं। अन्यथा वह संसार में क्षण भर भी न ठहरने पावे। किसी सभ्यता की उन्नति की परीक्षा इस बात से करनी चाहिये कि उसके द्वारा कितनी जनता ने कितना सुख पाया है।

—विश्वबन्धु एम० ए०

(१९)

योग्यतानुकूल व्यवसाय चुनना

हर एक मनुष्य के लिए किसी न किसी व्यवसाय, रोजगार, धंधे अथवा पेशे की आवश्यकता है और अपने लिए बुद्धिमत्ता-पूर्वक व्यवसाय चुनने में ही मनुष्य-जीवन का सफल होना अवलम्बित है। ऐसे बहुत ही थोड़े—हजारों में एक—मनुष्य होंगे जिन्हें जीवन-निर्वाह के लिए कुछ उद्योग नहीं करना पड़ता अर्थात् जिनके पास आवश्यकता से बहुत ही अधिक सम्पत्ति होती है। परन्तु ऐसे मनुष्यों को भी अपने लिए कुछ कार्य चुनने की आवश्यकता पड़ती है। इसका कारण यह है कि ऐसे मनुष्यों को उदरपूर्ति के लिए भले ही कष्ट न उठाना पड़े, परन्तु अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए तथा उसे आलस्य से बचाने के लिए, इच्छा न होने पर भी कुछ काम करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवन काम करने के लिए ही बनाया गया है, और धनवान् तथा धनहीन कोई भी मनुष्य इससे बच नहीं सकता।

यद्यपि इस बात की सत्यता निर्विवाद सिद्ध है कि प्रत्यक मनुष्य को कुछ न कुछ व्यवसाय या कार्य करना ही पड़ेगा, तथापि बहुत से युवकों को इस बात में डर और घृणा होती है। वे अपने माता पिता का पिंड नहीं छोड़ना चाहते और रोटी के प्रश्न को स्वयं हल करने में बेइज्जती समझते हैं। परन्तु इन्हें भी कभी न कभी, जल्दी अथवा देरी से कुछ कार्यारम्भ करना पड़ता है।

इसलिए प्रत्येक युवक का, जो संसार में प्रवेश करके विजय-कामना रखता हो, यह कर्तव्य है कि वह शीघ्र ही इस बात का निश्चय कर ले कि वह अपनी सारी शक्तियों को किस काम में लगावेगा। अनिश्चित अवस्था में रह कर विलम्ब करने और व्यर्थ समय खोने से कुछ लाभ न होगा।

बहुत से मनुष्य सुख का अर्थ नहीं समझते। वे कार्य के अभाव अर्थात आलस्य के साथ समय बिताने को सुख का साधन समझते हैं। यह एक बड़ी भारी भूल है। कहा जाता है कि उद्योग-रहित और कार्यहीन मनुष्यों का मन शैतान का निवास-स्थान होता है। भारतवर्ष के एक बड़े भारी अधिकारी को यह आज्ञा मिली कि 'अब तुम्हारे नौकरी के दिन पूरे हो गये। तुमने ईमानदारी से काम किया, इसके उपलक्ष्य में तुम्हें पेन्शन मिला करेगा।" जब उसे यह आज्ञा मिली तब वह बहुत खुश हुआ। खुशी इस बात की थी कि उसे अब काम नहीं करना पड़ेगा और मजे में दिन काटने का अवसर मिला करेगा। उसने खुशी के आवेश में अपने एक मित्र को यह पत्र लिख भेजा, "अब मैंने दिन भर के झगड़ों से छुट्टी पाई। रात दिन काम करने से जी ऊब गया था। अब मुझे दस-गुनी तनख्वाह मिले तो भी मैं काम न करूंगा।" दो चार आठ दिन बीत जाने पर जब उसे बैठे-बैठे खराब मालूम होने लगा और जब उसने देखा कि काम किये बिना आलस्यपूर्ण जीवन बड़ा ही दुखदायी होता है, तब उसने फिर अपने उस मित्र को शोक के साथ लिखा कि 'भाई! मैं मूर्खता से यह समझता था कि काम न करने ही में आनन्द है, परन्तु बात बिलकुल उलटी है। अब मुझे साफ-साफ मालूम हो रहा है कि मेरा पूर्व-जीवन बहुत

ही उत्तम और सुखपूर्ण था। जितना ही अधिक काम करना पड़ता था उतना ही अधिक सुख मिलता था।" साराश यह है कि हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहना मनुष्य के देहधर्म के विरुद्ध है। मनुष्य का मन पनचक्की के समान है। जब उसमें गेहूँ डालते जाओगे तब वह गेहूँ को पीस कर आटा बना देगी। परन्तु जब उसमें गेहूँ न डालोगे तब वह स्वयं अपने आपको पीस पास कर चौपट बना डालेगी। एक तत्वज्ञानी के इस कथन से हम भी पूर्णतया सहमत हैं कि 'बहुत कम मनुष्य लोभ के कारण जुआरी या शराबी हुआ करते हैं। उनमें से अधिकांश ऐसे मनुष्य हुआ करते हैं जो कुछ काम न करने के कारण केवल समय बिताने के लिए ही जूआ खेलते या शराब पीते हैं।"

जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि काम न करना अथवा आलस्यपूर्ण जीवन बिता देना देहधर्म के विरुद्ध है, तब हमारा यही कर्त्तव्य है कि हम कुछ न कुछ अच्छा व्यवसाय अपने लिए पसन्द करें। यह व्यवसाय हमारे मन, इच्छा, कार्यशक्ति और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिए। स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रतिकूल व्यवसाय करने में सफलता कभी हो नहीं सकता। विचार करने की बात है कि जिस मनुष्य को ईश्वर ने जन्म-सिद्ध चित्रकार बना कर भेजा है उसे यदि किसी कारण से उसका पिता विश्वविद्यालय में पढ़ा पढ़ा कर डिगरी दिलाना चाहे तो यह कभी हो सकता है? इधर प्रोफेसर साहब उसे किताब की बड़ी बड़ी बातें समझावेंगे और इधर वह लड़का प्रोफेसर साहब की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और हलचलों का चित्र अपने मन में खींचता जावेगा। मनुष्य जीवन

भर ज्यों का त्यों रहा। उसकी योग्यता न बढ़ी। इसलिए स्वाभाविक प्रवृत्तियों का जानना परम आवश्यक है, और इसके जानने में कोई भी कठिनाई नहीं है। प्रायः हरएक लड़के की बाल्यावस्था के कार्यों से यह जाना जा सकता है कि वह भविष्य में किस तरह का मनुष्य होगा। जो लड़का कालिदास बनने को पैदा हुआ है वह छोटी उम्र में भी अच्छी कविता कर सकता है। जो भविष्य में शिवाजी बनता है वह बचपन में लड़कों की सेना बना बना कर सेनापति का कार्य भी किया करता है। और जो भविष्य में विख्यात अमीरअली ठग बनता है वही लड़का बचपनमें पहल पहल "मुट्ठ चुरा कर" अपना पहला पाठ सीखता है। कहने का तात्पर्य यही है कि किसी की बाल्यावस्था के कार्यों और प्रवृत्तियों को देख कर यह सरलतापूर्वक जाना जा सकता है कि यह लड़का आगे चल कर किस प्रकार का मनुष्य होगा।

जब यह मालूम हो जाय कि अमुक लड़के की अच्छी प्रवृत्ति किस ओर है, तब सब से आवश्यक कार्य यह रह जाता है कि उसको उसी कार्य में अच्छी शिक्षा मिले। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुकूल योग्य और उदार शिक्षा पाने पर मनुष्य अपने व्यवसाय में थोड़े ही परिश्रम से सर्वश्रेष्ठ हो सकता है। हाँ, कभी कभी यह भी देखा जाता है कि किसी मनुष्य के भविष्य जीवन का पूरा प्रतिबिम्ब उसकी बाल्यावस्था में नहीं दीखता। परन्तु ऐसे अपवादात्मक उदाहरण बहुत कम पाये जाते हैं।

जिस तरह इस सृष्टि की प्रत्येक वस्तु में एक एक विशेष गुण रहता है उसी तरह प्रत्येक मनुष्य में भी कुछ विशिष्ट कार्य करने की शक्ति अवश्य ही रहती है। यह शक्ति अथवा स्वाभाविक

प्रवृत्ति चाहे किसी विशिष्ट अवस्था अथवा परिस्थिति में न भी मालूम हो सके, परन्तु वह ऐसी दृढ़ और उत्कट होती है कि वह आप ही आप प्रकट हो जाती है। उसे कोई छिपा नहीं सकता।

जब हम अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार कोई व्यवसाय चुन लें तब फिर हमें उसमें हज़ारों बाधाओं के होने पर भी लगे रहना चाहिए। बहुधा युवावस्था में कुछ कष्ट, उदासीनता अथवा अकृतकार्यता होने से युवकगण हताश होकर अपने इच्छित व्यवसाय को यह समझ कर छोड़ देते हैं कि कदाचित् वे किसी दूसरे व्यवसाय में लग जाने से अधिक सफलीभूत होंगे। परन्तु यह बड़ी भारी भूल है। हमें सर्वदा यही उचित है कि हम जिस धन्धे को अपने लिए एक बार चुन लें फिर उसे कभी न छोड़ें, उसी में दृढ़तापूर्वक लगे रहें। जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए अपनी प्रवृत्तियों के अनुकूल व्यवसाय चुनने की जितनी आवश्यकता है उससे बढ़कर उसमें दृढ़तापूर्वक लगे रहने की भी है। कठिनाइयों के उपस्थित होने पर यह विचार करना मूर्खता है कि हम किसी दूसरे व्यवसाय में अधिक सफल हुए होते। जब अपने व्यवसाय को छोड़ कर दूसरे धन्धे में लगने के लिए जी ललचाता है तब उस दूसरे धन्धे के केवल गुण और लाभ ही दृष्टिगत हुआ करते हैं और अपने धन्धे के केवल दोष और हानियाँ। पर ऐसा होना सम्भव नहीं है। हम जिस गुलाब को छेड़ेंगे उसी में कांटे मिल सकते हैं। इसलिए अपने एक बार के दृढ़ निश्चित व्यवसाय को बिना समझे बूझे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। नहीं तो लेने के देने पड़ जायँगे और यही हालत होगी कि "न खुदा ही मिला न विसाले सनम। न इधर के हुए न उधर के हुए।" इसलिए हमें किसी व्यवसाय

स्वास्थ्यरक्षा

इन शरीरों को पा कर हम सब भिन्न-भिन्न रूप में इस जगत्कानन में परिभ्रमण कर रहे हैं। हमारे अनेक कर्तव्य हैं, भाँति भाँति की निर्वाह-शालियाँ हे, एक मुख्य उद्देश्य होते हुए भी असख्य उद्देश्य हैं। इन सब की सिद्धि और पूर्ति के लिए शरीर ही एक आधार है। यहा तक कि ईश्वर उपासना भी शरीर के बिना सम्भव नहीं हो सकती। किसी कवि ने भी कहा है कि शरीर ही सब से मुख्य धर्म का साधन है। तो इस शरीर को ठीक अवस्था में रखना हमारा सब से पहला और आवश्यक कार्य हुआ। यही स्वास्थ्य रक्षा है।

यह शरीर पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश इन पाँच भूतों का बना हुआ है, ऐसा प्राय सभी मानते हैं, और नहीं तो जरा हेर-फेर से तो अवश्य ही मानते हैं। शरीर विज्ञान वालों का कथन है कि वात, पित्त, कफ ये तीन तत्त्व शरीरों को चलाने में हेतु हैं। और कम अधिक होने पर ये ही तीनों देह-नाशक भी हैं। इनका ठीक ठीक मात्रा में होना शरीरों की स्थिति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उधर पाँच भूत भी इन तीनों के ही कारण रूप समझिये। तो सीधी सादी भाषा में यह कहा जा सकता है कि शरीर में जितनी गर्मी और ठडक की आवश्यकता हो उतनी गर्मी और ठडक जितनी स्निग्धता होनी चाहिये उतनी स्निग्धता और जितनी वायु आवश्यक है उतनी वायु होने से स्वास्थ्य की रक्षा

और अत्यावश्यक नियम है। समयबद्धता के बिना स्वस्थ रहने के लिये लाख उपाय किये जाय, एक फल न होगा। अच्छे से अच्छा भोजन भी देह को ठीक न रख सकेगा, यदि नियमपूर्वक न खाया जायगा। और नियम से किया हुआ रूखा सूखा भोजन भी स्वास्थ्य को ठीक रखेगा। नियमितता और आरोग्य का इतना सम्बन्ध है जितना काया और छाया का। जैसा पदार्थ होता है—लम्बा, मोटा, टेढा—वैसी ही उसकी छाया होती है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य का जैसा नियम होता है वैसी ही उसकी काया होती है। जिन्हें नियमितता के रस का पता है वे कभी रोगी नहीं होते। उनका स्वास्थ्य कभी नहीं बिगड़ता। इस व्यापक नियम को अपनाने के पश्चात् ही स्वास्थ्यरक्षा के और नियमों तथा साधनों को उपयोग में लाने से वास्तव में स्वास्थ्य की प्राप्ति हो सकती है। इसके बिना नहीं।

नियमित आहार व्यवहार और नीरोगता का अटूट सम्बन्ध है। मनुष्य-शरीर में पृथिवी का अंश अधिक है, यह निर्विवाद है। इस देह को पार्थिव पदार्थों से पुष्ट करना मनुष्य का पहला काम है। बालक उत्पन्न होता है, स्वभावतः ही वह आहार के लिये माता के स्तनों की ओर प्रवृत्त होता है। शरीर की भूख को मिटाना मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है, जिससे रक्त, मांस आदि की वृद्धि हो और यह शरीर-नौका ठीक ठाक चलती चली जाय। अब देखना यह है कि भोजन कैसा और कितना होना चाहिये। दूध, घी, मक्खन दही, मट्ठा, गेहूँ का आटा, चना, शाक-सब्जी, फल आदि उत्तम उत्तम वस्तुओं का जो नियमित आहार करता है, वह अस्वस्थ

कभी नहीं होता। मांस आदि तामसिक पदार्थ मनुष्य-शरीर के भोज्य पदार्थ नहीं। भोजन की मात्रा ऋतु और अवस्था के आश्रित है। कच्चे भोजन की अपेक्षा पक्का भोजन अधिक स्वास्थ्यकर है, क्योंकि पकाने से भोजन स्वच्छ और रोग के कीटाणुओं से रहित हो जाता है। दूध दुहते ही पी लेना हो तो उसे गर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती, तब तो वह सब से अधिक गुणकारी होता है। खट्टे-मीठे, मिर्च मसाले-दार और गरिष्ठ पदार्थों का अधिक सेवन स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है। भोजन सदा धीरे-धीरे खूब चबाकर करना चाहिये, जिससे सारा जोर आमाशय पर ही न पड जाय। जल्दी-जल्दी निगलने वाले सदा रोगी दिखाई देंगे। भोजन के ऊपर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा, मनुष्य उतना ही अधिक स्वस्थ रहेगा। खाया हुआ पदार्थ यदि ठीक-ठीक पचता है, तो समझो कि शरीर स्वस्थ है। पाचन-शक्ति बिगडी कि स्वास्थ्य बिगडा। इसलिये भोजन बार बार कभी नहीं करना चाहिये। सारा दिन चरते रहने वाले और ठूस-ठूस कर खाने वाले पेटू लोगों की पाचन शक्ति मन्द पड जाती है।

पाचन शक्ति को ठीक रखने के लिये सब से मुख्य बात मल-शुद्धि की नियमितता है। यदि तुम नियम से शौच होते हो तो तुम पाचन-शक्ति की ओर और अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान दे रहे हो, अन्यथा नहीं। मल आदि वेगों को और छींक, उबासी आदि को रोकने वाले शीघ्र ही शरीर-यन्त्र को बिगाड बैठते हैं। प्रातःकाल उठकर यदि पानी पिया जाय तो पेट साफ हो जाता है, पाचन शक्ति बढती है और स्वास्थ्य में उन्नति होती है। बहुत पानी

या शर्बत पीने से, विरुद्ध गुण वाली वस्तुओं को एक साथ खाने से, ऋतु के अनुकूल भोजन न करने से, देर तक बैठे रहने से, दिन भर लेटे बैठे ही बिताने से और किसी चिन्ता में लीन रहने से खाया हुआ पदार्थ नहीं पचता। भोजन के एक घण्टे पश्चात् यदि पानी पिया जाय तो अत्यन्त गुणकारी होता है। मोटा और कफ को अधिक प्रयुक्त करने वालों को सदा अपच की शिकायत रहती है। चूर्ण आदि खाने का स्वभाव उतना ही भयङ्कर है जितना कि ऊट-पटाङ खाने का स्वभाव। इनसे जाठराग्नि सदा के लिए मन्द पड़ जाती है, जैसे नौकर चाकरों पर ही आश्रित रहने वाले लोग आलसी बन जाते हैं।

भोजन का शरीर पर प्रभाव मन के ऊपर अवलम्बित है। हृदय प्रसन्न हो तो सादा भोजन भी बहुत असर करता है। इसके लिए कलह से सदा बचना चाहिए। किसी लड़ाई-झगड़े के कारण, अथवा आपस के कलह के कारण, या किसी दुर्घटना के कारण चित्त यदि खिन्न हो तो एक दम भोजन करना भूखे रहने से कहीं अधिक हानिकर है। ऐसे समय में भोजन का उल्टा प्रभाव होता है। पहले मन को शान्त कर लिया जाय, कुछ समझा-बुझा लिया जाय, तब भोजन करने से लाभ होता है। भोजन यदि मन-वाञ्छित न मिले, और करना यही हो, तो उसको तिरस्कार करके ऐसे खाने से तो न खाना ही अच्छा। अथवा उसे ही सर्वोत्तम भोजन विचार कर खाना चाहिये। अन्यथा वह पचेगा नहीं।

प्रतिदिन शीतल जल से स्नान करने से शरीर सदा स्वस्थ रहता है। दुर्बल व्यक्ति थोड़े गर्म पानी से स्नान कर सकता है। अत्यन्त शीत प्रधान देशों में भी गर्म जल से नहाया जा सकता

व्यायाम स्वास्थ्यरक्षा का अत्यावश्यक अङ्ग है। डण्ड बैठक, कबड्डी, कुश्ती, फुटबाल आदि खेल, तैरना, दौड़ना आदि अनेक प्रकार के व्यायाम हैं। अपनी अपनी रुचि और अवस्था के अनुसार कोई भी व्यायाम किया जा सकता है। अधिक अवस्था के लोगों के लिये प्रात और साय की सैर ही एक व्यायाम है। वैसे तो प्रात काल का वायुसेवन स्वास्थ्य-रक्षार्थ सब के लिये बहुत ही उपयोगी है। व्यायाम का उद्देश्य शरीर की गर्मी को ठीक रखना है। जो किसी प्रकार का भी व्यायाम नहीं करते, वे सदा रोग ग्रस्त रहते हैं। बच्चों को देखिये, वे क्या बड़े-बूढ़ों से अधिक नीरोग रहते हैं? बीमार होने पर वे बड़ों की अपेक्षा क्यों शीघ्र स्वस्थ हो जाते हैं? क्योंकि वे कूदते फाँदते रहते हैं, उनका तेज तत्त्व उद्दीप्त रहता है। इसीलिये शरीर रक्षा के लिए व्यायाम एक मुख्य साधन है। इससे आयु भी बढ़ती है और शरीर भी नीरोग रहता है। बल और शक्ति की उपलब्धि होकर शरीर में कठिन कठिन काय करने की क्षमता आजाती है। उत्साह और स्फूर्ति की अधिकता हो जाती है और जीवन सुखमय बन जाता है।

परमात्मा ने दिन कार्य करने के लिये, कर्तव्य पालन करने के लिये, स्वार्थ और परार्थ की पूर्ति के लिये बनाया है और रात्रि दिन-भर के थके मादे शरीर के लिये आराम करने के लिये बनाई है, परन्तु यह स्वेच्छाचारी मनुष्य रात को जागने और दिन का सोने में भी कुछ शान समझता है। पर उसे यह नहीं पता कि उसका यह कार्य स्वास्थ्य की जड़ पर कुठार है। इससे सदा बचना चाहिये। इसी प्रकार कम सोना और अधिक सोना भी स्वास्थ्य का

नाशक है। क्या हम ठीक समय पर सोने और जागने वाले पशु पक्षियों से शिक्षा न ग्रहण करेंगे ?

नशीली वस्तुएं शरीर का स्वास्थ्य बिगाड देती हैं। देखने को तो मनुष्य शराब पीकर लाल से हो जाते हैं, और बहुत से तो इसीलिये शराब पीते हैं, परन्तु उनका भीतर क्षीण और भस्म सा हुआ जाता है। जहां नशा उतरा कि काया बुझे हुए कोयले सी काली और राख सी फुस हो जाती है। अफीम, गांजा भॉग, सिगरेट, हुक्का आदि सब अपने अपने गुणों—दुर्गुणों के अनुसार स्वास्थ्य के लिये हानिकर ही हैं। चाय-कहवा आदि वस्तुएं उसी काल के लिये कुछ जोश देती हैं, पीछे वे भी शरीर को बहुत शिथिल कर देती है। खून को सुखाने के तो ये पूरे साधन हैं। इन दिनों चाय और तमाखू का सेवन एक साधारण बात हो गई है, परन्तु इनका प्रयोग करने वाले भी कभी-कभी इससे बहुत तंग आ जाते हैं, आदत की मजबूरी से छोड भले ही न सकें। यदि सचाई से विचार किया जाय तो पता चलता है कि इन वस्तुओं से हमारे शरीरों को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता।

खाने पीने का स्वास्थ्य से जितना सम्बन्ध है, आचरण का उससे कम नहीं। सदाचार से स्वास्थ्यरक्षा में पूरी सहायता मिलती है और दुराचार से स्वास्थ्य की हानि होती है। सदाचार को इन्द्रियनिग्रह कहा जा सकता है। जो अपनी इन्द्रियों के वश में पड कर मिथ्या आहार-व्यवहार में फँस जाते हैं वे स्वास्थ्य खो बैठते हैं। वज्र जैसा भी उनका शरीर कुछ दिनों में क्षीण और दुबल हो जाता है। वीर्य-रक्षा/ब्रह्मचर्य का शरीर से

यही मन्तव्य था। वे खूब स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट थे, उनकी आत्मा की उग्रता असीम थी।

स्वास्थ्य के बिना जीना मृत्यु के तुल्य है। पड़े पड़े सड़ते रहने में क्या लाभ? नियमित आहार-व्यवहार से और नियमित जीवन से जिन्होंने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की है वे धन्य हैं।

स्वास्थ्य होने से जीवन आनन्द और उल्लास के प्रवाह में बहा करता है। दुःखमय जीवन किस काम का? स्वास्थ्य के बिना सब सुख सामग्री निष्फल है। करोड़ों रुपया बैंक में जमा है, अरबों रुपये का व्यापार है, परन्तु खाने के लिये कठिनता से एक फुलका ही नसीब होता है! यह भी कोई जीवन है? तभी तो कहते हैं कि एक स्वास्थ्य पर लाखों सुख न्योछावर कर दिये जा सकते हैं। उसे तो स्वास्थ्य-प्राप्ति की लोगों में बहुत चाह है, पर लोग प्रायः स्वास्थ्य के नियमों पर नहीं चलते। इसीलिये रोगों और वैद्य डाक्टरों की एक जैसी वृद्धि होती जाती है। स्वस्थ शरीर से ही सब धर्माचरण हो सकते हैं, नीरोग व्यक्ति ही सब प्रकार की उन्नति कर पाते हैं। लोकव्यवहार के छोटे से छोटे काम के लिये भी स्वास्थ्य की आवश्यकता है। अस्वस्थ मनुष्य पग पग पर ठोकरें खाता है और अपमानित होता है। जिन जातियों के लोग स्वास्थ्यरक्षा का ध्यान नहीं रखते और शरीर की ओर से विमुख रहते हैं वे जातियाँ देर तक स्वतन्त्र नहीं रहने पातीं। स्वास्थ्य अमूल्य निधि है। इसकी रक्षा बड़े यत्न से करनी चाहिये।

— गोपालचन्द्र दत्त

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये आत्मसंयम अत्यन्त आवश्यक है

प्रत्येक व्यक्ति में अपने जीवन का सफल बनाने की प्रबल आकांक्षा होती है। मनुष्य का प्रत्येक काम इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ करता है। एक शिशु का जन्म होता है। धीरे धीरे वह बढ़ने लगता है। उसके साथ ही साथ माता पिता की महत्त्वाकांक्षाएं विस्तृत होती जाती हैं। वे सोचते हैं कि हम इसका भली-भाँति पालन पोषण कर इसे इतना योग्य बनाएंगे, यह इस प्रकार अपने जीवन को सफल बनाएगा और इसी में हमारे यश तथा हमारी प्रतिष्ठा की कुञ्जी निहित है। इधर जैसे ही बालक ने होश सम्भाली कि अपने जीवन की सफलता को लक्ष्य बनाना आरम्भ किया। यह बात और है कि किसी ने अपने जीवन की सफलता किसी एक बात में मान ली हो, पर उसके सम्पूर्ण प्रयत्न अपने कार्य की सिद्धि में ही लग जाते हैं। एक ग्रामीण कृषि आदि की देख भाल के लिये पूर्ण योग्य होने में ही जीवन की सफलता देखता है। एक नागरिक साधारण शिक्षा प्राप्त कर क्लर्क का जीवन बिताने में ही अपने जन्म का साफल्य समझता है। कुछ लोग अपने जीवन को राम और कृष्ण के आदर्श जीवनों के अनुरूप किये बिना जीवन की सफलता नहीं मानते। उद्देश्य सब का एक ही है और वह है अपने जीवन में सफलता प्राप्त करना। पर बहुधा देखने में आता है कि अधिकांश लोग अपने जीवन में सफल नहीं हो पाते। इसका क्या

यही मन्तव्य था। वे खूब स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट थे, उनकी आत्मा की उग्रता असीम थी।

स्वास्थ्य के बिना जीना मृत्यु के तुल्य है। पड़े पड़े सड़ते रहने से क्या लाभ ? नियमित आहार-व्यवहार से और नियमित जीवन से जिन्होंने अपने स्वास्थ्य की रक्षा की है वे धन्य हैं।

स्वास्थ्य होने से जीवन आनन्द और उत्साह के प्रवाह में बहा करता है। दुःखमय जीवन किस काम का ? स्वास्थ्य के बिना सब सुख सामग्री निष्फल है। करोड़ों रुपया बैंक में जमा है, अरबों रुपये का व्यापार है परन्तु खाने के लिये कठिनता से एक फुलका हज़म होता है। यह भी कोई जीवन है ? सभी तो कहते हैं कि एक स्वास्थ्य पर लाखों सुख न्योछावर कर दिये जा सकते हैं। वैसे तो स्वास्थ्य-प्राप्ति की लोगों में बहुत चाह है, पर लोग प्रायः स्वास्थ्य के नियमों पर नहीं चलते। इसीलिये रोगों और डाक्टरों की एक-सी वृद्धि होती जाती है। स्वस्थ शरीर से ही सब धर्माचरण हो सकते हैं, नीरोग व्यक्ति ही सब प्रकार की उन्नति कर पाते हैं। लोक-व्यवहार के छोटे से छोटे काम के लिये भी स्वास्थ्य की आवश्यकता है। अस्वस्थ मनुष्य पग पग पर ठोकर खाता है और अपमानित होता है। जिन जातियों के लोग स्वास्थ्यरक्षा का ध्यान नहीं रखते और शरीर की ओर से विमुख रहते हैं वे जातियाँ देर तक स्वतन्त्र नहीं रहने पातीं। स्वास्थ्य अमूल्य निधि है। इसकी रक्षा बड़े यत्न से करनी चाहिये।

— गोपालचन्द्र दत्त

जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये आत्मसंयम अत्यन्त आवश्यक है

प्रत्येक व्यक्ति में अपने जीवन को सफल बनाने की प्रबल आकांक्षा होती है। मनुष्य का प्रत्येक काम इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ करता है। एक शिशु का जन्म होता है। धीरे धीरे वह बढ़ने लगता है। उसके साथ ही साथ माता पिता की महत्त्वाकांक्षाएं विस्तृत होती जाती हैं। वे सोचते हैं कि हम इसका भली-भाँति पालन पोषण कर इसे इतना योग्य बनाएंगे, यह इस प्रकार अपने जीवन को सफल बनाएगा और इसी में हमारे यश तथा हमारी प्रतिष्ठा की कुञ्जी निहित है। इधर जैसे ही बालक ने होश सम्भाली कि अपने जीवन की सफलता को लक्ष्य बनाना आरम्भ किया। यह बात और है कि किसी ने अपने जीवन की सफलता किसी एक बात में मान ली हो, पर उसके सम्पूर्ण प्रयत्न अपने कार्य की सिद्धि में ही लग जाते हैं। एक ग्रामीण कृषि आदि की देख-भाल के लिये पूर्ण योग्य होने में ही जीवन की सफलता देखता है। एक नागरिक साधारण शिक्षा प्राप्त कर क्लर्क का जीवन बिताने में ही अपने जन्म का साफल्य समझता है। कुछ लोग अपने जीवन को राम और कृष्ण के आदर्श जीवनों के अनुरूप किये बिना जीवन की सफलता नहीं मानते। उद्देश्य सब का एक ही है और वह है अपने जीवन में सफलता प्राप्त करना। पर बहुधा देखने में आता है कि अधिकांश मनुष्य अपने जीवन में सफल नहीं हो पाते। इसका क्या कारण

है ? आत्मसंयम का अभाव। ऐसे लोगों को या तो आत्मसंयम का पथ ही नहीं दिखाया गया होता, उसके गुण नहीं समझाए गए होते, अथवा वे स्वयं जान बूझकर आत्मसंयम से मुह मोड़ते हैं। वास्तव में जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए आत्मसंयम अत्यन्त आवश्यक है।

अध्यापक ने शिष्य से कहा कि देखो कल इतना पाठ अवश्य स्मरण कर लाना। शिष्य याद करने बैठा। इतने में उसे दूसरे बालकों का कौतुहल पूर्ण शब्द सुनाई दिया। उस समय यदि वह आत्मसंयम करके पढने में ही मन को लगाता है तब तो वह सफल है, और यदि पुस्तकें वहीं छोड़ उन्हीं में जा मिलता है तो उसकी सफलता असम्भव हो जाती है। रोगी पन्द्रह दिवस के अनन्तर नीरोग हुआ। कुछ चटपटी वस्तु बिकती देख कर ललचा गया। बस अपथ्य कर बैठा और फिर रोग शय्या पर जा विराजा। यदि वह आत्मसंयम से काम लेता तो कष्ट क्यो उठाता ?

काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकार मनुष्य के मन पर सदा से अधिकार रखते हैं और अवसर पाते ही अपना प्रभाव दिखाने से नहीं चूकते। ये ही नदी के प्रवाह की भाँति बहते हुए मनुष्य-जीवन में अनेक बाधाएं डालकर उसे मलिन और निराशापूर्ण बनाया करते हैं। इनकी प्रतिद्वन्द्विता में यदि आत्मसंयम का सहारा ले लिया जाय तो मनुष्य जीवन की सफलता में सन्देह नहीं रहता। सचमुच इन पर काबू पाना—अपने को वश में रखना—जगत् को विजय कर लेना है।

साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, बड़े बड़े सम्राट् भी जब काम के अधीन होकर आत्मसंयम को तिलाञ्जलि दे डालते

हैं तब वे जीवन की असफलता की कीच में अवश्यमेव फँस जाते हैं। बहुधा उन्हें अपने जीवन तक से हाथ धोना पड़ता है। इतिहास इस बात का साक्षी है। अनेक राज्यों और बहुत से राजाओं का नाश और संहार इसी आत्मसंयम के अभाव के कारण हुआ। पर जिसने आत्मसंयम को अपना साथी बना लिया उसने कभी भी असफलता का मुंह नहीं देखा। असफलता तो एक ओर रही उसे आशातीत और विस्मयोत्पादक सफलता ही सफलता मिलती चली गई। छत्रपति शिवाजी का ऐतिहासिक महत्त्व किससे छिपा है? कहां तो एक साधारण सी जागीर और कहां उसके स्थान पर इतना बड़ा महाराष्ट्र-राज्य। कहां थोड़े से मावली और कहां बीजापुर के सुलतान का असंख्य दल और औरंगजेब की घन-घटा सी भयावनी मुगल सेना! अफजलखां, शाइस्ताखां जैसे दुर्दम्य सेनानियों का सामना करना कोई हँसी-खेल न था। पर वीरवर शिवाजी ने असफलता का कभी नाम भी न सुना। क्यों? क्योंकि उनमें आत्मसंयम कूट कूट कर भरा हुआ था। दुर्गों पर विजय पाने के अनन्तर उन्होंने वैरि नारियों को कभी संयमहीन दृष्टि से देखा तक नहीं। यवन-आक्रान्ताओं की भाँति आत्मसंयम का गला घोटने से उन्हें घृणा थी। जब मरहठों ने कल्याणदुर्ग को जीता तो नीलपन्त ने क़िले के अध्यक्ष की सुन्दरी कन्या को पकड़कर शिवाजी के सामने भेंटरूप में उपस्थित करके उनका विशेष कृपापात्र बनना चाहा। उस समय पूर्ण-संयमी शिवाजी ने पन्त को बहुत फटकारा और उस कन्या को सुरक्षित उसके पिता के पास पहुँचा दिया। उनकी सफलता के यही तो मुख्य कारण थे।

पति जब क्रोध पर विजय पाकर अपनी पत्नी की चूक को क्षन्तव्य समझ लेता है तब उसके जीवनाकाश में विषाद के मेघ विलीन हो जाते हैं और प्रत्येक काम में सफलता शशिकला के समान छिटक कर आनन्द का स्रोत बहा देती है। वह जिस कार्य में हाथ डालता है, वही काम आपही आप पूर्ण होने लगता है। चारों ओर उसे अपनी जीत ही जीत दिखाइ देती है। सांसारिक विघ्न बाधाओं का सामना करने के लिये उसमें अपूर्व शक्ति का संचार हो जाता है।

दुकानदार जब लोभ वश निकृष्ट वस्तु देने अथवा कम देने से अपने आपको नहीं रोक सकता तो परिणाम क्या निकलता है? उसके ग्राहक धीरे धीरे कम होने लगते हैं और तब वह व्यापार-मार्ग का असफल यात्री बन जाता है। इसी प्रकार मनुष्य को मोह, अहंकार आदि के वश होकर कई प्रकार की हानियां उठानी पड़ती हैं और उसे पुनः पुनः असफलता का मुह देखना पड़ता है।

जो व्यक्ति इन्द्रियों के दास होते हैं वे संयमी नहीं बन सकते। इच्छाशक्ति के इंगित पर नाचने में और संयमी होने में तम और प्रभाकर का सा अन्तर है। संयमहीन पुरुष सदा उत्साह शून्य, अधीर और अविवेकी होते हैं, इसीलिये वे अधिकतर असफल रहा करते हैं। आत्मसंयमी व्यक्तियों में सर्वदा उत्साह, धैर्य और विवेक भरा रहता है, अतएव उन्हें सर्वत्र सफलता ही उपलब्ध होती है।

काम, क्रोध आदि का संघर्ष उपस्थित होने पर आत्मसंयमी होना एक बात है और संघर्ष का अवसर ही न मिलने पर आत्म संयमित्व के भाव में भरे रहना और बात है। वैसे तो सभी

संयमी होने का दम भर सकते हैं, पर समय पड़ने पर परीक्षा में पूरे उतरने वाले थोड़े होते हैं। युवावस्था, सम्पत्ति और प्रभुत्व पाकर आत्मसंयमी होना ही वास्तव में सच्चा आत्मसंयम है। जीवन का रस चाट कर अन्तिमावस्था में संयम का ढोंग भरने से क्या ? पैसों के अभाव के कारण सिनेमा देखने से वञ्चित रहना अपने पर काबू पाना नहीं कहा जा सकता। पूँजी समाप्त होने पर मद्यपान न करना आत्मसंयम नहीं। लोभ के कारणों की अनुपस्थिति में उदारता की भावना से ओत प्रोत रहने में क्या बड़ाई ? गली गली के भिखारी का क्या आत्मसंयम और क्या न आत्मसंयम ?

कुछ लोगों का आगे पीछे नहीं, समय पड़ने पर, यह भी मत हो जाता है कि आत्मसंयम की कोई उपादेयता नहीं, क्यों न मन माना आनन्द उठाया जाय ? पर जैसे ही वे उससे आगे बढ़ते हैं और उन्हें अपने जीवन के नैराश्य और ह्रास का नंगा चित्र दिखाई पड़ता है, उनकी आँखें खुलती हैं और उन्हें प्रलोभनों की गहरी खाई की वास्तविकता और आत्मसंयम की आवश्यकता का भान हो जाता है। सूर्य की किरणों से चमकती हुई मिट्टी में पड़ी पान की पीक को जब एक मार्ग चलने वाला इसे रत्न समझ कर उठा लेता है तो उसके मन की जो दशा होती है उसे भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं।

आत्मसंयम की कहाँ आवश्यकता नहीं ? विद्यार्थी जीवन की सफलता आत्मसंयम के बिना स्वप्नमात्र होती है। असंयमी छात्र प्रथम तो कभी सफल ही न होंगे, यदि कुछ हुए भी तो अधम कोटि में। वे न अपना कुछ बना पाते हैं और न ही माता पिता, गुरु और देश का नाम उज्ज्वल कर सकने में समर्थ होते हैं। आकाश-पाताल को मिला देने वाली धारा प्रवाह वक्तृताओं से

श्रोताओं के हृदयों को झकझोर कर उन्हें अपने नेतृत्व की छाया तले लाने वाले असंयमी नेताओं का प्रभाव चिरस्थायी किसने देखा है ? उन्हें कभी सफलता भी मिली है ? वे तो स्वयं दलदल में फँसे हैं, दूसरों को क्या उबारेंगे ? जरा आँखों से ओझल हुए कि जनता ने उनकी संयमहीनता को लक्ष्य कर कटाक्ष करना आरम्भ कर दिया। उनका सारा प्रभाव कर्पूर की तरह उड़ जाता है और वे असफलता के समुद्र में डूब कर विलुप्त हो जाते हैं।

आत्मसंयम के रहते जिस वीर से संसार काँपा करता है, संयम छोड़ने पर उसी व्यक्ति की सत्ता जगत् में तृणवत् हो जाती है। एक भीमकाय पुरुष से सारा नगर थर्राता है, उसकी बात को टालने की किसी में हिम्मत नहीं होती, आवश्यकता पड़ने पर वह अकेला चालीस पचास वीरों का भी सामना कर सकता है, पर वही जब रात को चोरी करने निकलता है तो डर के मारे उसके हृदय की गति तेज हो जाती है, उस समय एक बालक का शब्द भी उसे भगा देने को पर्याप्त होता है, उसकी सारी शक्ति संयमहीनता द्वारा अपहृत हुई होती है। होते होते वही व्यक्ति कापुरुष बन कर असफलताओं का केन्द्र बन जाता है। पीछे उसे पता चलता है कि मैंने संयम को खोकर अपना सर्वस्व नष्ट कर दिया है, मेरा जीवन निष्फल है।

जातियों का उत्थान और पतन व्यक्तियों के आत्मसंयम पर ही अवलम्बित है। ज्यों ज्यों किसी जाति के लोगों में संयम बढ़ता जाता है, उनमें कर्तव्य पालन की क्षमता आती जाती है, उन्हें विषय-वासनाएं और प्रलोभन अपने गन्तव्य पथ से विचलित नहीं कर सकते, उनके शत्रु उन्हें पतित करने के लिये छटपटाया

करते हैं, किन्तु कुछ कर नहीं पाते। इस प्रकार वे बढ़ते ही चले जाते हैं और एक दिन जाति उन्नति के उच्च शिखर पर आरूढ़ हो जाती है। उनका देश स्वतन्त्र, सुखी और समृद्ध हो जाता है। दूसरी ओर जैसे ही किसी जाति के लोगों में संयमहीनता का समावेश होता है कि उस जाति की गति नाशोन्मुख हो जाती है। दूसरी जातियाँ उस जाति पर शासन किया करती हैं। ज़रा ज़रा से प्रलोभनों से बड़ी बड़ी जातियों का पतन इतिहास-वेत्ताओं से छिपा नहीं। राजपूतों की अवनति का कारण आत्मसंयम का अभाव ही तो था। अपनी शक्ति और सामर्थ्य की मदान्धता में अपनी इच्छाओं के वशीभूत हुए पृथ्वीराज ने जयचन्द्र को अपना शत्रु न बनाया होता तो भारत को पराधीनता का मुख क्यों देखना पड़ता? दुर्दान्त सुलतानों के पतन का मुख्य कारण संयमाभाव ही बतलाया जाता है। अकबर, जहाँगीर आदि मुगल राजाओं की जड़ खोखली करने में प्रबल हेतु उनकी संयमहीनता ही था। मुगल सेना की विलासिता ने ही अन्त में मुगल साम्राज्य को पतन के गढ़े में ला पटका था। शिवाजी के उत्तराधिकारियों के आत्मसंयमी न होने से इतना सुदृढ और शक्तिशाली स्वराज्य भी नष्ट-भ्रष्ट हो गया।

संयम को छोड़ जब एक भौंरा बार बार मकरन्द के लोभ से नए नए [illegible] बैठता है तो उसे उस समय [illegible] का कुछ पता [illegible] उस रस में ही अपने जीवन को [illegible] [illegible] रात्रि के [illegible] में [illegible] तब उसे अपने [illegible] पर [illegible] पाने के लिये [illegible]

संयम को या तिलाञ्जलि न देने की प्रतिज्ञा करते करते किसी प्रकार समय बिताया करता है। सौभाग्य से यदि कोई दुर्घटना न हो जाय तो प्रात काल अंशुमाली के कर-जाल से विकसित उस फूल से उसे मुक्ति मिल जाती है, पर उसकी रसिकता पूर्ववत् ही रहती है। यों ही एक दिन फूल में बन्द हुआ वह अभागा किसी मस्त हाथी द्वारा तोड़ कर खाए हुए उसी पुष्प समेत इस जगत् से सदा के लिये मिट जाता है। ठीक यही दशा संयमहीन व्यक्ति की हुआ करती है। सांसारिक प्रलोभनों के वशीभूत होकर जब उसे संकटों और विपत्तियों को सहना पड़ता है तब तो वह पश्चात्ताप करता है और फिर वैसा न करने की प्रतिज्ञा करता है, परन्तु उससे मुक्त होने पर फिर उन्हीं वासनाओं में फँस जाता है तथा अनेकों दुःख सहता हुआ कभी या ही काल-कवलित हो जाता है।

जब एक मनुष्य पहले पहल झूठ बोलता है तो उसे इस बात का निश्चय होता है कि मैंने जान बूझ कर असत्य कहा है, यदि मैं चाहूँ तो सत्य बोल सकता हूँ और वास्तव में उस समय उसमें सत्य बोलने की शक्ति होती भी है, परन्तु कुछ काल के पश्चात् झूठ बोलना उसकी प्रकृति का एक अङ्ग बन जाता है, फिर उस व्यक्ति में इतनी शक्ति नहीं रह जाती कि वह अपने आपको झूठ बोलने से रोक सके। इसी प्रकार सब से पहली बार सुरापान करने वाले को यह भरोसा होता है कि मैं चाहूँ तो मद्य न पीयू, किन्तु कुछ दिन बीतने पर सुरा पीना उसके स्वभाव में आ जाता है और तब वह शराब पीने को विवश हो जाता है। अपनी पड़ोसिन की निन्दा करने वाली एक स्त्री जब प्रथमबार निन्दा

करती है तो उसे आत्मविश्वास सा होता है कि मैं इस बार ही पराई निन्दा कर रही हूँ भविष्य में पर-निन्दा से अपने आपको बचा सकूगी, किन्तु जब फिर समय आता है तो वह सयम खो बैठती है और परापवाद किए विना रह नहीं सकती । उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मसयम कोई साधारण वस्तु नहीं है कि कोई जब चाहे उसे उपयोग मे ला सके । यह तो अभ्यास से प्राप्त होता है । छोटी छोटी बातों में जब आत्मसयम का अभ्यास किया जाय तब इसकी सिद्धि होती है। चारों ओर से सुनाई पडने वाली असफलता और निराशा की ध्वनि का मूल कारण जरा जरा सी बातों मे आत्मसयम का अभाव ही तो है। मार्ग में जाती हुई मा बहिनों की ओर ताके बिना न रह सकने वाले प्राणी यदि जीवन मे निराश न हों तो क्या हो ? जो अपनी चक्षुरिन्द्रिय को ही वश मे नहीं रख सकते वे मन पर कैसे प्रभुत्व पा सकेंगे ? जिह्वा के स्वाद मे जो विचलित हो उठते हैं उनसे बडी बातों में आत्मसयम की आशा दुराशामात्र है।

आत्मसयम के लिए अभ्यास किसी विशेष समय पर नहीं किया जाता। इसके लिए तो सतत ही प्रयत्नशील रहना पडता है। आपको भूख लग रही हो, आपका छोटा भाई भी भोजन करने के लिए तत्पर हो, आप उस समय उसे पहले भोजन करने दीजिए, आत्मसयम का यह 'अ, आ' है। घर के पास कुछ आश्चर्यजनक दर्शनीय वस्तु आई, आपके कानों मे उसकी भनक पडी, यदि आप उसे देख लें तो कुछ बिगडता नहीं, पर उस समय अपने आपको रोकिये, उसे मत देखिये, इससे आपमे आत्मसयम की एक विशेष शक्ति का सचार होगा। छुट्टी का दिन

विद्याएं पढकर भी यदि मनुष्य में विनयशीलता न आई तो उसका पढना व्यर्थ गया। शिक्षा पाकर भी अविनयी रहने से तो अशिक्षित रहना ही उत्तम कहा जा सकता है। सच्ची विद्या नम्रता की उत्पादिका होती है। एक विद्वान का कथन है कि विद्या से विनय की प्राप्ति होती है, विनय से व्यक्ति सत्पात्र बन जाता है, पात्र व्यक्ति के पास धन-सम्पत्ति का आगमन होता है और फिर धर्माचरण करता हुआ वह व्यक्ति सुख से जीवन व्यतीत करता है।

गुरु और छात्र दोनों नम्रता के उपासक होने चाहियें। नम्र गुरु से शिक्षा प्राप्त करने वाला शिष्य उत्साह और भक्ति से पूर्ण रहता है। दुरूह से दुरूह विषय भी उसके लिये अत्यन्त सुबोध और शीघ्रगम्य हो जाते हैं। इधर विद्यार्थी की नम्रता उसे शीघ्र से शीघ्र विद्या प्राप्त करने योग्य बनाती है। विनयी शिष्य को अध्यापक बड़े प्रेम और मनोयोग से शिक्षा देता है, उससे कोई बात छिपा नहीं रखता। इस प्रकार दोनों ओर से सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है। एक ओर भी नम्रता का अभाव हो तो कभी भी पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती।

स्त्री जाति में नम्रता एक स्वाभाविक सा गुण है। विनय की पूर्णता नारियों में ही दृष्टिगोचर होती है। सन्तान के लालन पालन में, उसे सुशिक्षित करने में और उत्तम स्वभाव तथा गुणों से युक्त बनाने में माता का सब से अधिक हाथ होता है। माता में यदि नम्रता का अभाव हो तो सन्तति कभी भी योग्य नहीं बन सकती। प्राथमिक संस्कार मनुष्य-जीवन की नींव होते हैं।

यह एक सुदृढ़ ढाल है। यह सफलता, धन प्राप्ति, सुख और शान्ति की अनोखी कुञ्जी है। महात्मा विदुर ने कहा है कि 'क्रूर मनुष्य की कमाई लक्ष्मी शीघ्र नष्ट हो जाती है और नम्रता से सञ्चित धन का पुत्र पौत्र उपभोग करते हैं। दूसरों को स्ववश करने का यह मूल मन्त्र है। उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचने के लिए पक्की सीढी है। एक कवि का कहना है कि मनुष्य की गति नल-जल के तुल्य होती है। जिस प्रकार नलके का पानी मूल स्थान पर ऊंचाई से जितना नीचे की ओर जाता है आगे नलके में जाकर वह उतना ही ऊपर चढता है, इसी प्रकार इस ससार में मनुष्य जितना नम्र होकर चलता है, उतना ही वह उन्नत होता है।

गोपालचन्द्र देव

आनन्द की ओर

अरे ! मिट्टी का मोर तू क्या करेगा ? अवश्य लेगा ! आनन्द आयगा, अच्छा, ले ले। अब भी उसी से खेल रहा है ! तुझे इसके साथ बडा लगाव है, उसका साथ नहीं त्यागता ! में ! उसे भी दूध पिला रहा है ! खूब ! बडी प्रीति है ! यह तो, चूर चूर हो गया न ? पेर अटक गया था। कोई चिन्ता नहीं, और मिल जायगा।

लो, देखो, कितना सुन्दर एक और मिट्टी का मोर है। क्यों जी ! देखते ही नही उधर कहा ध्यान है ? यह मोर तुम्हारा प्यारा और दुलारा है। इससे तुम्हारे आनन्द का पारावर नहीं रहा करता। वही तो है ! न लूगा। कुछ नहीं। मिट्टी का है। गेन्द बल्ले मे इसकी क्या आवश्यक्ता। गेन्द-बल्ला ही लूगा, खेलते हुए बडा आनन्द आता है। हा हा ! यह मिट्टी का मोर और मैं ! छि ! शर्म लगती है !

हूँ ! मैं भी विचित्र हूँ ! सदा गेंद-बल्ले के ही पीछे पड़ा रहता था ! तभी चोट लगी है न ! कभी न खेलूगा ! कभी न हाथ लगाऊँगा बाजार मे चाट खाने मे बडा मजा आता है। इतना आनन्द ! आ हा ! मन गुदगुदाता है।

खूब चाट खाई। जरा स्वाद नहीं। पैसे व्यर्थ जाते हैं। शरीर की पुष्टि भी नही होती। तभी तो लोग मास ! चखू तो सही अरे ! बडा स्वादु है। बहुत आनन्ददायक है।

नहीं नहीं, सब ढोंग है। सब जीभ की करामात है। कहता था 'जरा पीलो' क्या हानि है। अधिक न सही नाममात्र की मात्रा। ऐं! है तो आनन्द की वस्तु। पर मैं तो मास में बड़ा आनन्द देखता हूँ। अ हह ह! यह कहां छिपा था? अरे! बड़ी मस्ती आती है! क्या खूब स्फूर्ति मिलती है! जगत् भर का आनन्द एक ओर और यह दूसरी ओर! सचमुच यह विजयी है। आहा! कितना आनन्द मिलता है?

मास-मद्य क्या है इस सिनेमा के सामने? वैसे भी देख लिया है छोड़ दिये हैं अब तो बार बार देखने को जी चाहता है। और देखता भी हूँ। आनन्द का मानो समुद्र है। वाह! क्या खूब कला है? अब तो कुछ सूझता ही नहीं सिवाय सिनेमा के। सिनेमा का नागा और आनन्द का भण्डार लुटा देना एक तुल्य है। कभी न होगा, कभी न होगा।

हां! कभी कभी देख लेता हूँ। अजी, इसमें रक्खा ही क्या है? पैसे भी दो और आँखें भी गँवाओ। समय की हत्या भी करो। न यह न होगा। मैं नहीं देखने जाऊँगा। छोडो, छोडो, मुझे घृणा है। आनन्द जाय भाड़ में।

कायापलट सी हो गई। कहां ठोकरें खाता रहा। अध्ययन में इतना आनन्द है। यह तो अभी पता चला। मुह छिपाने तक का नहीं रहा। गणित का एक प्रश्न हल करने में जितना उल्लास है, उतना इतस्तत कहीं न होगा।

पढ़ना लिखना! हाँ, यह कुछ है। पर सारी बात तो उपाधि की है। जिस समय उपाधि मिलेगी! ओह! आनन्द की पराकाष्ठा होगी! तब आनन्द का अक्षय कोष पूर्ण हो जायगा!

सुझमा सुखी दुनिया मे कोई न होगा।

क्यों रे मन। कभी तृप्त भी होगा या यों ही चक्कर कटवाएगा। चार उपाधियाँ मिली हैं और चार ही प्रमाण-पत्र। अच्छा, निकाल कर देखू तो उसमें कुछ आनन्द है भी या यो ही प्रतारणा थी। हैं। इन्हें देखकर तो क्रोध आता है। जलन उठती है। क्या इन्हें लेकर चाटू। कब से काम ढूँढ रहा हूँ, पर कोई काम नहीं मिला। उपाधियाँ मिल गई हैं, कोई कार्य भी मिल जाय तो बड़ा आनन्द आए। उस दिन के बाद फिर आनन्द ही आनन्द होगा।

पर मेरा सोचा तो अयथार्थ निकला। सच्चा आनन्द तो मित्रों में है। काम मिल गया है, सो रुपये तीस दिन के बाद मिल जाते हैं, अच्छा है। पर आनन्द मनाने का भी तो कोई साधन होना चाहिये। तभी तो मित्र बनाए हैं। प्रति दिवस उनके यहाँ जाता हूँ। हास-परिहास में बड़ा आनन्द आता है।

यह हास-परिहास ही किया करोगे या कुछ स्थायी आनन्द का भी सामान जुटाओगे। हा, हा, ले आओ, ले आओ। ताश तो महदानन्द दायक खेल है।

मित्र। भई। ताश बच्चों का खेल है। शतरञ्ज चौपट आदि कुछ आरम्भ करो, भली भाँति दिल भी बहले। वाह वाह ! शतरञ्ज वास्तव में शाही खेल है। बड़ा आनन्द आता है। भोजन ठहर कर करूँगा। एक बाजी हो ले। मत बुला, फर्जी पिट रहा है। लो भई, शह।

न न, कुछ नहीं। लड़ाई-झगड़ा हो जाता है। भ्रमण में हृदय बहुत आनन्दमग्न होता है। कभी इस पर्वत पर और कभी उस चोटी पर जाकर जब चारों ओर दृष्टि दौड़ाई जाय चित्त में

कुछ न कुछ अवश्य बचाना चाहिये। जीवन में अनेक ऐसे अवसर आ पड़ते हैं, कई आकस्मिक दुर्घटनाएं हो जाती हैं, बहुत बार रोग और अन्य शारीरिक आपत्तियां आ घेरती हैं, यदि पहले से मितव्ययिता का आश्रय न लिया गया तो मानापमान का कुछ ध्यान न कर इधर उधर हाथ फैलाने पड़ते हैं। उस समय सहायता मिलनी कठिन हो जाती है। मिल भी जाय तो मनुष्य ऋण के बन्धन में ऐसा जकड़ा जाता है कि आयु पर्यन्त अथवा पर्याप्त काल के लिये उस से मुक्त होने में नहीं आता। जो मितव्ययी नहीं हैं, वे प्रायः दूसरों के कर्जदार रहते हैं। ऋण से बढ़ कर कोई दुःख और संकट नहीं है।

जिन्हें अपव्यय करने का स्वभाव पड़ जाता है वे सहस्रों और लाखों रुपयों को अल्पकाल में ही स्वाहा कर देते हैं, पूर्वजों की गाढ़े पसीने की कमाई को यों ही गंवा बैठते हैं। अक्षय सम्पत्ति भी फिजूलखर्च लोगों की फिजूलखर्ची को सदा नहीं निभा सकती। आज तक सहस्रों की जीविका जिनके आश्रित थी वे ही अपव्यय के कारण कल दूसरों के सामने झोली फैलाए खड़े होंगे। द्वार द्वार से धक्के और ठोकरें खाकर घृणा के पात्र बन जाएंगे। जीवन दूभर हो जायगा। जब लक्ष्मी-पुत्रों की भी यह अवस्था हो जाती है तो निर्धनों तथा थोड़ी पूंजी वालों के लिये अपव्ययी होना तो मानो स्वयं अपना शत्रु बनना, अपने पांव पर आपही कुल्हाड़ी मारना है। गरीबों को तो अपव्यय का स्वप्न भी नहीं देखना चाहिये, नहीं तो शीघ्र ही भूखे मरना होगा। इन्द्रियों के स्वाद की पूर्ति के पीछे उनका सर्वनाश हो जायगा। दरिद्र का जीवन एक तपस्या का जीवन है। वे ही समझ-बूझ कर

खर्च न करें तो और कौन करेगा ?

अपव्यय के मुख्य चार प्रकार हैं। एक व्यसनों के अधीन होकर, दूसरा स्वार्थ के लिये या नाम कमाने के लिये, तीसरा ईर्ष्या-द्वेष से और चौथा साधारणतया। मद्य, अफीम, भंग, गांजा चरस, तमाखू आदि के सेवन में, रेस सट्टे आदि जूए तथा साधारण जूए में और वेश्यागमन आदि दुराचारों में लाखों रुपयों की प्रतिदिन फिजूलखर्ची होती है। स्वार्थ पूरा करने के लिए घूस का बाजार खूब गर्म है। इस उत्कोच ने लोगों को कहीं का नहीं रखा। नाम के पीछे, अथवा, नाक न कट जाय, इस डर से सामाजिक अपव्यय अत्यन्त भयङ्कर है, विवाहों में जिस प्रकार का अपव्यय होता है, वह किसी से छिपा नहीं, समाज की अन्य अच्छी या बुरी प्रथाओं में मितव्ययिता की जैसी कमर तोड़ी जाती है उसे दीपक लेकर ढूंढने की आवश्यकता नहीं। व्यापारिक दृष्टि को जाने दीजिये, शान दिखाने के लिये बड़ी बड़ी अट्टालिकाएं बनाने वाले फिजूल खर्च नहीं तो और क्या हैं ? कहावत भी प्रसिद्ध है कि 'बनिये की कमाई, ब्याह और मकान ने खाई'। ऐसे बहुत से अपव्ययियों का हमने थोड़े ही समय के पश्चात दीवाला पिटते देखा है। दिखावे और शान के लिए वस्त्रों पर भी कुछ कम अपव्यय नहीं होता। अति हो जाने पर आभूषण भी फिजूलखर्ची के अन्तर्गत आ जाते हैं। म्यूनिसिपल चुनाव में, आपस की ईर्ष्या और प्रतिद्वन्द्विता में सहस्रों रुपयों पर पानी फेर देने वालों की संख्या आज कम नहीं है। द्वेष की तो कुछ पूछो ही मत। द्वेष के पीछे यदि अपव्यय न

मे ध्यान न देना, विदेशो चीजो को प्रयुक्त करना और विदेशी वस्तुओं का व्यापार करना पशुत्व का समर्थन करना है।

युद्ध का नाम सुनते ही वीरता के भावों से भरपूर हो जाना मनुष्यत्व है और कायर बन कर छिप जाना पशुत्व। सेनापति को मरते या घायल होते देखकर भी रण मे डटे रहना मनुष्यता है और वहाँ से लोमडो की भाँति भाग जाना पशुता। देश प्रेम से देश पर बलिदान होने वाले वास्तव में मनुष्य हैं और देश द्रोही तथा आक्रान्ता से मिल जाने वाले पशु से भी गये गुजरे। मनुष्यत्व के इच्छुक अपने देश मे अपना ही राज्य रखते हैं और पशुत्व के प्रमी दूसरो क अधीन होकर भी रगरलिया मनाते हैं। शत्रु की भयकर सेना का सामना करना, तिल तिल कटाने के लिये तैयार हो जाना मनुष्यता है और इस ओर से उदासीन रहना पशुता। अपनी स्वतन्त्रता बचाने के लिये उद्यत होना ... और दूसरे की स्वतन्त्रता का ... हवाई-जहाजों, गैसों, कूटनीति ... पशुत्व है। मिलकर चलना, मिलकर खाना, इकट्ठे रहे ... वस्त्र पहनना मनुष्यता है ... पशुता है। फूट के कीटाणु ... और फूट से प्रेम पशुत्व।

ब्रह्मचर्य, पातिव्रत्य ... जीवन की बाधाओं का ... कहा जा सकता है। ... है। जीवन की ...

निमुख होना मनुष्यत्व नहीं कहा जा सकता।

पशु को बाँध कर रखना पड़ता है, क्योंकि वह निरकुश है, चाहे जहा तहा चला जाता है, इधर-उधर मुह मार देता है। मनुष्य को भी क्या इस प्रकार निरकुश बनकर दूसरा का बन्धन स्वीकार करना चाहिये? इससे क्या उसका मनुष्यत्व रह जायगा? पशु के गले की रज्जु को एक हाथ मे पकड कर और दूसरे हाथ में एक लकडी लेकर उसे जहा चाहे हाक कर ले जाओ। जिन लोगों का इसी प्रकार हॉके जाने का स्वभाव पड गया है, जिन्हें कोई भी जिधर चाहे ले जा सकता है—लगा सकता है, उन्हें भी पशु ही कहा जायगा। पशु को चाहे जितना मारो, चाहे जितना उसका अपमान करो, पीछे खाने को दे दो, वह पूँछ और कान हिलाने लगेगा। ऐसे नर पशु भी बहुत से मिलेंगे जो कुचले जाने और अपमानित होने पर भी जरा सी वस्तु मिलने पर चट सन्तुष्ट और प्रसन्न हो जाते हैं। कुत्ते को जितनी ही ताडना देने के बाद उसके सामने एक टुकडा डाल दो, वह झट से मार पीट को भूलकर उसे खाने लगेगा। यदि हम भी ऐसे ही हैं तो हम कौन हैं, इसे स्पष्ट कहने की आवश्यकता नहीं। पशुओं में भी कई पशु मार पीट और अपमान को नहीं सहते। वे कई दिन तक निराहार रहते हैं। कई पशुओं ने तो प्राण तक त्याग दिय, ऐसा सुना जाता है। पर इस प्रकार के पशु मनुष्य कोटि के हैं। उनमें मनुष्यत्व का समावेश है, यदि ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

जापान वाले भी बडे चतुर हैं। चुङ्गी के भय से वे कपडे के टुकडे बना बना कर भेजते हैं। आजकल 'कटपीस' के क्रय विक्रय

का बड़ा जोर है। सेकड़ों दुकानें इसी जापानी 'कटपीस' व्यापार के लिये खुल गई हैं। सहस्रों फेरी वाले कपड़ा घर घर पहुँचाते हैं। स्त्रियों ने बड़ी 'बुद्धिमत्ता' से ऐसी सस्ती वस्तु का पता पा लिया है। एक-दूसरी को ऐसे ऐसे 'फेन्सी' वस्त्र पहने देख उससे भी अधिक फेन्सी' कपड़े को ढूँढ ही लाती हैं। पुरुष भी किसी से पीछे नहीं। पर यह सब क्या है? भेडचाल—पशुत्व का जीता जागता चित्र, मनुष्यत्व के संहार की पराकाष्ठा। 'एक पड़ा जेहि 'गड्ड' में सबै जाहिं तेहि बाट' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। सोच समझ कर, हानि-लाभ देखकर, उपयोगिता अनुपयोगिता का विचार कर जो काम किया जायगा वह मनुष्यत्व कहलायगा, इसके अभाव में पशुत्व से कम नहीं।

पशु जहाँ स्थान मिला वहीं बैठ जाते हैं, जिस पशु का साथ हुआ उसी के सङ्ग हो लेते हैं। कूड़ा करकट, गोबर कीच आदि की उन्हें कुछ परवाह नहीं होती, भले बुरे स्वभाव का उन्हें कुछ ध्यान नहीं होता। पशुओं की भाँति स्थानास्थान, पवित्रता-अपवित्रता का ध्यान न रखने वाले और अच्छे बुरे की पहचान किये बिना सगति करने वाले लोग मनुष्यत्व से कोसों दूर हैं। मनुष्य सत्सङ्गति से मनुष्य और कुसङ्गति से पशु बन जाता है।

अन्तर्दृष्टि का मनुष्यत्व से गहरा सम्बन्ध है। अध्यात्म-चिन्तन से मनुष्य पशुत्व से हटकर मनुष्यत्व की ओर प्रवृत्त होता है। केवल माया और प्रकृति का उपासक पशुत्व को हृदय से चिपटाए हुए है। ऐसे व्यक्ति के पास दोषों से बचने का कोई मार्ग नहीं होता। उसे झूठे आकर्षणों से सुरक्षित रहने के लिये कोई उपाय नहीं सूझता। पशुत्व प्रधान व्यक्ति भी यदि प्रतिदिन

थोड़ा सा समय अपने कृत्यों पर दृष्टिपात करने में व्यतीत करे तो उसकी पशुत्व की कालिमा धीरे धीरे धुलने लगेगी।

मनुष्यत्व और पशुत्व का बड़ा भारी संघर्ष है। इनका द्वन्द्वयुद्ध निरन्तर होता रहता है। कभी यह जीतता हुआ दिखाई देता है और कभी वह। मनुष्यत्व के प्रबल होने पर उत्तमोत्तम कार्य होने लगते हैं और पशुत्व के शक्तिशाली होने पर निकृष्ट कार्य।

मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व है। पशु का धर्म पशुत्व है। अपना धर्म छोड़ पराए निकृष्ट धर्म को अपनाने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी। मनुष्यत्व से जीवन निर्वाह की योग्यता उत्पन्न होती है, व्यक्तित्व बढ़ता है और सुख तथा समृद्धि की प्राप्ति होती है। शान्ति और स्वतन्त्रता कभी साथ नहीं छोड़तीं। पशुपन को स्वीकार करने से जीवनचर्या चरितार्थ नहीं हो पाती, व्यक्तित्व उत्पन्न ही नहीं होता, जो कुछ पहले से होता है वह भी नष्ट हो जाता है और दुख तथा दरिद्रता का एकच्छत्र राज्य हो जाता है। अशान्ति पशुत्व का प्रसाद है। मनुष्यत्व रहित लोग शीघ्र परतन्त्र हो जाते हैं। इसलिए मनुष्य को मनुष्यत्व का—अपने धर्म का—ही आश्रय लेना चाहिए, पशुत्व का नहीं।

गोपालचन्द्र देव

का बड़ा ओर है। सैकड़ों दुकान इसी जापानी 'रुटपीस' के व्यापार के लिये खुल गई हैं। सहस्रों फेरी वाले कपड़ा घर घर पहुँचा आते हैं। स्त्रियों ने बड़ी बुद्धिमत्ता से ऐसी सस्ती वस्तु का पता पा लिया है। एक-दूसरी को ऐसे ऐसे 'फेन्सी' वस्त्र पहने देख उससे भी अधिक फेन्सी' कपड़े को ढूँढ ही लाती है। पुरुष भी किसी से पीछे नहीं। पर यह सब क्या है? भेड़ाचाल—पशुत्व का जीता जागता चित्र, मनुष्यत्व के संहार की पराकाष्ठा। 'एक पड़ा जेहि 'गड्ड' में सबे जाहिं तेहि बाट' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। सोच समझ कर हानि लाभ देखकर, उपयोगिता, अनुपयोगिता का विचार कर जो काम किया जायगा वह मनुष्यत्व कहलायगा, इसके अभाव में पशुत्व से कम नहीं।

पशु जहाँ स्थान मिला वहां बैठ जाते हैं, जिस पशु का साथ हुआ उसी के सङ्ग हो लेते हैं। कूड़ा करकट, गोबर कीच आदि की उन्हें कुछ परवाह नहीं होती, भले बुरे स्वभाव का उन्हें कुछ ध्यान नहीं होता। पशुओं की भाँति स्थानास्थान, पवित्रता-अपवित्रता का ध्यान न रखने वाले और अच्छे बुरे की पहचान किये बिना संगति करने वाले लोग मनुष्यत्व से कोसों दूर हैं। मनुष्य सत्सङ्गति से मनुष्य और कुसङ्गति से पशु बन जाता है।

अन्तर्दृष्टि का मनुष्यत्व से गहरा सम्बन्ध है। अध्यात्म-चिन्तन से मनुष्य पशुत्व से हटकर मनुष्यत्व की ओर प्रवृत्त होता है। केवल माया और प्रकृति का उपासक पशुत्व को हृदय से चिपटाए हुए है। ऐसे व्यक्ति के पास दोषों से बचने का कोई मार्ग नहीं होता। उसे झूठे आकर्षणों से सुरक्षित रहने के लिये कोई उपाय नहीं सूझता। पशुत्व प्रधान व्यक्ति भी यदि प्रतिदिन

थोड़ा सा समय अपने कार्यों पर दृष्टिपात करने में व्यतीत करे तो उसकी पशुत्व की कालिमा धीरे धीरे धुलने लगेगी।

मनुष्यत्व और पशुत्व का बड़ा भारी संघर्ष है। इनका द्वन्द्वयुद्ध दिन रात होता रहता है। कभी यह जीतता हुआ दिखाई देता है और कभी वह। मनुष्यत्व के प्रबल होने पर उत्तमोत्तम कार्य होने लगते हैं और पशुत्व के शक्तिशाली होने पर निकृष्ट कार्य।

मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व है। पशु का धर्म पशुत्व है। अपना धर्म छोड़ पराए निकृष्ट धर्म को अपनाने से लाभ के स्थान पर हानि अधिक होगी। मनुष्यत्व से जीवन निर्वाह की योग्यता उत्पन्न होती है, व्यक्तित्व बढ़ता है और सुख तथा समृद्धि की प्राप्ति होती है। शान्ति और स्वतन्त्रता कभी साथ नहीं छोड़ती। पशुपन को स्वीकार करने से जीवनचर्या चरितार्थ नहीं हो पाती, व्यक्तित्व उत्पन्न ही नहीं होता, जो कुछ पहले से होता है वह भी नष्ट हो जाता है और दुख तथा दरिद्रता का एकच्छत्र राज्य हो जाता है। अशान्ति पशुत्व का प्रसाद है। मनुष्यत्व-रहित लोग शीघ्र परतन्त्र हो जाते हैं। इसलिए मनुष्य को मनुष्यत्व का—अपने धर्म का—ही आश्रय लेना चाहिए, पशुत्व का नहीं।

गोपालचन्द्र देव

(२३)

रस

मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय—पदार्थों में ये छः रस होते हैं। जिनका आस्वादन रसना का विषय है। रस पानी को भी कहते हैं। रस एक ओषधि भी है। गन्ने का रस बड़ा स्वादिष्ट होता है। पर इस लेख में उस रस से प्रयोजन है जिसका आधार मन है, जो भाव के आश्रित है। किसी वाक्य को सुन कर या अभिनय को देखकर हृदय में जो अकथनीय आनन्द उत्पन्न होता है उसे रस कहते हैं। रस काव्य की आत्मा है।

कवि अपनी बुद्धि से, कल्पना से और अनुरक्ति से काव्य की सृष्टि करता है। बुद्धि, कल्पना, अनुराग ये तीन तत्त्व काव्य के प्राण हैं। ये तीनों तत्त्व इतने मिले-जुले होते हैं कि इनका विभाग करना असम्भव सा है। प्रतिदिन भिन्न-भिन्न पदार्थों को देखने से मन में विचारों का एक कोश इकट्ठा हो जाता है और बुद्धि परिपक्व हो जाती है। उसे जब एक कवि अपनी चातुरी से प्रकट करता है तो काव्य की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त जो बात कहीं दिखाई नहीं देती, कवि का हृदय उनकी कल्पना करके काव्य का निर्माण करता है। इसके भी अतिरिक्त भावों की प्रधानता से भी काव्य की रचना होती है।

भाव चार प्रकार के होते हैं। स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और सञ्चारीभाव। जो भाव मनुष्य के मन में सदा विद्यमान हैं

उन्हे स्थायीभाव कहते हैं। जैसे—हँसी, क्रोध। जिसके सहारे भाव प्रकट होता है उसे आलम्बन विभाव और जिसके सहारे उद्दीप्त होता है उसे उद्दीपन विभाव कहते हैं। विभाव के द्वारा मन में उत्पन्न हुए विकार से शरीर पर जो प्रभाव पडता है उसे अनुभाव कहते हैं, जसे—स्वरभग, कम्प आदि। जिन भावों से स्थायीभावों की पुष्टि होती है उन्हे सञ्चारीभाव कहते हैं, जैसे—निर्वेद ग्लानि आदि। ये चारो भाव मिलकर रस को प्रकट करते हैं।

कुछ विद्वानों का सिद्धान्त है कि रस उत्पन्न होता है। अनेक आचार्य रस की अभिव्यक्ति मानते हैं, उत्पत्ति नहीं। पर स्थायी भाव की नित्यता को सभी स्वीकार करते हैं। रस की चाहे अभिव्यक्ति कहो चाहे उत्पत्ति। उसका मूल तो पहले से ही विद्यमान है। एक विद्वान् का कथन है कि—

"स्थायी भाव, विभाव के सहारे उत्पन्न और पोषित हो कर अनुभाव रूपी वृक्ष बनता है। फिर सचारी फूल के समान क्षण क्षण फूल कर इन सब क सयोग से मकरन्द रूप रस बनता है। जो कि मधुप रूपी कवियो का जीवनाधार होता है।"

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्थायी भाव का परिपाक ही रस है। इतना ध्यान रखना चाहिये कि अभिनय करने वाले को और काव्य निर्माण कर्ता को चाहे रस का अनुभव हो या न हो दर्शक और श्रोता या पाठक का हृदय ही रस की अभिव्यक्ति या उत्पत्ति का मुख्य स्थान है।

साहि[illegible] के आचार्यों ने नौ रस माने हैं—शृङ्गार, हास्य, [illegible] भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। इनक[illegible] [illegible]ी भाव माने हैं—रति, हँसी, शोक, क्रोध,

तत्सम्बन्धी वस्तुओं का दर्शन उद्दीपनविभाव हैं। स्वेद, स्वरभंग, विवर्ण आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, मोह, जडता, विषाद, व्याधि, मरण आदि संचारीभाव हैं।

रौद्र—'क्रोध' इसका स्थायीभाव है। शत्रु या अनिष्टकर्ता आलम्बन विभाव हैं। उनका गर्व से बोलना, कटाक्ष करना, प्रहार करना या ललकारना उद्दीपन विभाव हैं। नेत्र लाल होना, दाँत कटकटाना रौद्र के अनुभाव हैं। गर्व, कोप, उग्रता, कम्प आदि संचारीभाव हैं।

वीर—'उत्साह' इसका स्थायीभाव है। प्रतिनायक इसका आलम्बन है। उसकी विरोधी क्रियाएँ उद्दीपनविभाव हैं। अंग फड़कना, रोमाञ्च आदि अनुभाव हैं। गर्व, असूया, मति प्रीति, हर्ष, धृति आदि संचारीभाव हैं। 'रौद्र' में कम्प और क्रोध होता है 'वीर' में नहीं, दोनों में यह एक विशेष भेद है। वीरता कई प्रकार की है—दानवीरता, युद्धवीरता, दयावीरता, सत्यवीरता। कुछ लोग विरहवीरता को भी स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका मत सर्वसम्मत नहीं।

वीभत्स—'ग्लानि' इसका स्थायीभाव है। रक्त, मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदि वस्तुएँ आलम्बनविभाव हैं। इन वस्तुओं का वर्णन या इनकी दुर्गन्धि अथवा इन्हें फैलाना आदि उद्दीपन विभाव हैं। थूकना, छि छि करना, गर्दन हिलाना आदि अनुभाव हैं। अपस्मार, व्याधि आदि संचारीभाव हैं।

अद्भुत—'आश्चर्य' इसका स्थायीभाव है। आश्चर्य-उत्पादक वस्तुएँ आलम्बनविभाव हैं। उन वस्तुओं का ढंग से वर्णन आदि उद्दीपनविभाव हैं। रोमाञ्च, कम्प आदि अनुभाव हैं। शंका,

उत्सुक्ता, चिन्ता तर्क, चपलता हर्ष आदि सचारीभाव हैं।

शान्त –'निर्वेद' इसका स्थायीभाव है। वैराग्य उत्पन्न करने वाले पदार्थ या घटनाएं आलम्बन हैं। उन पदार्थों या घटनाओं का बार बार होना आदि उद्दीपन विभाव हैं। गहरा साँस लेना, काँपना आदि अनुभाव हैं। निर्वेद प्रीति, स्मृति, धृति आदि सचारीभाव हैं।

क्रमश रसों का एक-एक उदाहरण दिया जाता है—

शृङ्गार

मजु उरोज सरोज कली सों लगी उर ज्यों भुज में भुज लाइ।
एकहि सग अनेक प्रकारनि प्रेम के रग उमग रचाइ॥
सींची मनो मम अग-त्वचा, हिम आदि सों शीतल औ सुखदाई।
चन्द्रक, चन्दन, चन्द्रकान्त—पसेव, सिवाल, मृनाल, मिलाइ॥

—सत्यनारायण

हास्य

पिल्ला लीन्हे गोद में, मोटर भई सवार।
अली भली घूमन चलीं, किए समाज सुधार॥
किये समाज सुधार हवा योरप की लागी।
शुद्ध विदेशी चाल ढाल सों मति अनुरागी॥
मिया मचावें शोर करें अब तोवा तिल्ला।
पूत धाय के गोद खिलावें बीबी पिल्ला॥

—अन्नपूर्णानन्द

करुण

गीत गई अब रात, महा तम दूर हुआ है।
कैट का कुल हाय, न चकनाचूर हु

आज भयकर रुद्र रूप उपवास हुआ है।
हा ! हम सब का घोर नरक मे वास हुआ है ॥—नाथूराम ग

रौद्र

अति रिस बोले वचन कठोरा। कहु जड जनक धनुष कहि तोरा।
वेगि दिखाउ मूढ नत आजू। उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू।
—तुलसीदास

वीर (युद्धवीर)

सैयद मुगल पठान, सेख सद्रावत भच्छन।
सोम-सूर द्वै बस, राव राना रन-रच्छन ॥
इमि 'भूपन' अवरग और नव्विल रूलजगों।
कुल करनाटक कोट भोट-कुल हरम फिरगी ।
चहुँ ओर वेर महि मेरु लगि, साहितने साहस झलक।
फिर एक ओर सिवराज नृप, एक ओर सारी मलक ॥
—भूषण

सत्यवीर

चन्द्र टर सूरज टरै टरै जगत व्यौहार।
पै दृढ व्रत हरिश्चन्द्र को टरै न सत्य विचार॥ —भारतेन्दु

दयावीर

दयाधम जान्यो तुही, सब धर्मनु को सार।
नृप सिवि ! तेरे दान प बलि हूँ बलि सौ बार॥ —वियोगी हरि

धर्मवीर

हँसत-हँसत निज धर्म पे दियो जु सीसु चढाय।
धर्म समर मे मरि भयो अमर हकीकतराय॥

दानवीर

सुरतरु लै कीजै कहा, अरु चिन्तामणि ढेर ।
इक दधीचि की अस्थि प वारिय कोटि सुमेर ॥

—वियोगी हरि

भयानक

घाटत कठोर अस्थि पिंजर की ग्रन्थिनु औं,
करै किकनीलौ शब्द कड़कि कड़ाक सों ।
नस जाल छेदनु में आंतनु के भेदनु में,
गत श्रम होत है जो झड़कि झड़ाक सों ॥
निरातंक विचरे जो मास-पुञ्ज चीरन में,
जैसे पंक-जीरन में सड़कि सड़ाक सों ।
यह सोई खड्ग चण्ड तेरे अंग अगनि कों,
खण्ड खण्ड करै आज फड़कि फड़ाक सों ॥

—सत्यनारायण

और भी

काँपत कोपित केहरी मुहुँ बाये विकराल ।
रहे धँधकि अगार के प्रलय काल प लाल ॥

—वियोगी हरि

वीभत्स

सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत ।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनँद उर धारत ॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि के मास उचारत ।
स्वान आंगुरिन काटि काटि के खान विचारत ॥
बहु चील नोचि लै जात तुच मोद मढ्यो सब को हियो ।

मनु नद्य भौन निनमान कोउ आजु मिखारिन कहँ दियो ॥
—भारतेन्दु

अद्भुत

तीसों का सिर काट लिया, ना मारा ना खून किया। —खुसरो

और भी

सत्ता पखुरियों मे फूलों की फूली, फूलों की सत्ता में पाईं पखुरिया।
—शंकर

शांत

समझी थी संयोग को, मन की भूल वियोग।
आज विवेकानन्द ने दूर किया भ्रमरोग॥
वस्तु रूप से एक है आकृति जाति अनेक।
देह देह मे जीव का, दीपक तुल्य विवेक॥
—शंकर

रसों मे कौन अच्छा है कौन बुरा, यह तो 'दधि मधुर मधु मधुरम्' की तरह अपनी अपनी रुचि की बात है। एक शृङ्गार को ही 'ब्रह्मानन्द सहोदर' समझता है तो दूसरा करुण रस से ही आह्लादित होता है तथा तीसरा वीर-रस से ही फड़क उठता है। ऐसे भी जन हैं जो शान्त-रस में ही परमानन्द मानते हैं। फिर भी साहित्य मे शृङ्गार, करुण और वीर रस प्रधान हैं। शेष रस इन तीनों के पोषक होते हैं।

वर्णों और रसों का भी बहुत कुछ सम्बन्ध है। न, म, ल, स, आदि कोमल वर्ण शृङ्गार, करुण और शान्त रस में प्रयुक्त होते हैं। रौद्र, वीर, भयानक आदि रसों मे ट, ड, श आदि कठोर वर्णों का प्रयोग करना पड़ता है। द्वित्ववर्णों की अधिकता से शृङ्गार, करुण और शान्त रसों का रस जाता रहता है और

रौद्र, वीर आदि रसों मे अधिक शक्ति आ जाती है।

उक्त भाव और रस समाज और जाति के विचारों के अनुकूल ही होने चाहियें। समाज और जाति के विरुद्ध होने पर ये भाव और रस भावाभास और रसाभास हो जाते हैं। पूज्य व्यक्तियों का उपहास, निकृष्ट और अयथार्थ वस्तु मे प्रीति, द्रूप, शोक, उत्साह, भय, शृङ्गार के वर्णन मे वीरता की बात, वीररस में शृङ्गार की बेतरह पुट, शोक के साथ हँसी की बातें आदि भावाभास और रसाभास के अन्तर्गत हैं। जैसे—

(क) उत गढ–फाटक तोरि रिपु दीनी लूट मचाय।
इत लपट ! पट तानि तैं परयौ तीय उर लाय॥

इस कविता को पढ़ने या सुनने वाले का हृदय कवि के इष्ट 'वीर' रस की ओर जाने की अपेक्षा किले के फाटक को तोड़ कर लूट मचाने वाले शत्रु को दण्ड देने के बदले 'पटतानि तीय उर लाय' में ही लीन हो जायगा।

और भी

(ख) करती हैं मास यार की आँखें 'जुलाब' का॥

रस की प्रधानता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। जाति, धर्म, समाज, राजनीति, इतिहास, विज्ञान–सब में रसों का प्रभाव है। जाति की वृद्धि और उत्कृष्टता मे शृङ्गाररस का हाथ है। धर्म शान्तरस की अपेक्षा रखता है। समाज के लिये हास्य, करुण आदि रसों की आवश्यक्ता है। राजनीति और इतिहास मे वीर रौद्र वीभत्स रसों की प्रधानता है। विज्ञान मे अद्भुतरस का समावेश है। इस प्रकार रस सब विषयों में व्यापक है।

पहले कहा जा चुका है कि हृदय मे जो अलौकिक आनन्द

प्रकट होता है उसे रस कहते हैं। यहां आशंका होती है कि करुण, बीभत्स आदि रस किस प्रकार आनन्द स्वरूप हैं? हास्य से जैसे हँसी आती है वैसे ही करुण से शोक होना चाहिए। यह सत्य है कि इनसे अपना अपना स्थायीभाव प्रकट होता, परन्तु वह भाव देर तक नहीं रहता। करुण आदि रसों के काव्य पढ़ने के पश्चात् जब मनुष्य का हृदय गद्गद् हो जाता है उस समय वह कह उठता है कि—अहा! इस करुण-काव्य से आनन्द आ गया। पहले कुछ समय तक चाहे वह करुणा के स्रोत में बहा हो, पर पीछे वह आनन्दमग्न होकर काव्य की प्रशंसा करने लगता है।

रस द्वारा किसी को उठाया और गिराया जा सकता है। जातियों के पतन और उत्थान में इसका बहुत हाथ है। शृङ्गार-रस प्रधान साहित्य से समाज कामुक होकर उत्साह और वीरता से शून्य हो जाता है। जिस साहित्य में वीर रस की प्रधानता होती है उसे पढ़ने वाले पराक्रमी होते हैं। हिन्दी-साहित्य में शृङ्गार रस अधिक है। आदि काल की थोड़ी सी अमूल्य कृतियों और भूषण की अप्रतिम रचना को छोड़ वीर रस कम दिखाई पड़ता है। हास्य, करुण आदि रसों की भी बहुत न्यूनता है। प्रत्येक रस में रचनाएं होने लगें तो साहित्य सर्वाङ्गपूर्ण हो और भिन्न भिन्न रुचि और प्रवृत्ति के लोग अपनी अपनी इच्छानुसार रस ले सकें।

—गोपालचन्द्र देव

(२४)

पूँजीपतियों की स्वार्थान्धता ही अशान्ति का कारण है

बड़े बड़े प्रासाद, ऊँची ऊँची अट्टालिकाएँ अनेक कारखाने, फैले हुए व्यापार, लाखों और करोड़ों की जागीर, चले हुए बैंक आदि आदि पूँजीपतियों के क्रीड़ा स्थल हैं। मनमाना रहन-सहन और स्वेच्छाचारिता का आचरण इनके मुख्य गुण हैं। सम्पत्ति की मदान्धता में इन्हें भला बुरा, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य कुछ नहीं सूझता। स्वार्थ और लोभ की ये प्रतिमाएँ हैं। निर्धन, दीन, भूखे, नंगे और पीड़ित जनों का करुण-क्रन्दन इन्हें डाँवाडोल करने में समर्थ नहीं। किसी न किसी प्रकार केवल अपनी जेब भरने, अपनी इच्छा पूर्ण करने और अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की ही इन्हें चिन्ता है। बड़ी बड़ी कोठियों और मकानों के स्वामियों की सैकड़ों मकानों से भी तृप्ति नहीं होती। कारखानों के अधिपति दिन दिन और और कारखाने खोलने की धुन में हैं। बड़ी बड़ी कम्पनियों के संचालकों का पेट भरने में नहीं आता। जागीरदारों पर अपनी जागीरों को विस्तृत करने का भूत सवार है। प्रतिदिन सैकड़ों बीमा कम्पनियों और बीसों बैंकों की सत्ता और नाश का क्रम चल रहा है। जिधर दृष्टि डालो उधर ही पूँजीपति अजगर के तुल्य मुँह बाए हड़पने को खड़े हैं। लाखों लोगों के जीवन-मरण का प्रश्न इनके हाथ में है। लक्ष्मी इनकी ओर सिमटती चली जा रही है।

सर्वसाधारण और गरीबों का रक्त पी पी कर ये इतने मतधारु और इतने स्वार्थान्ध हो गए हैं कि इन्हें अब कुछ सूझता ही नहीं। लोगों का कराहना, स्त्रियों का रुदन बालकों का बिलखना और सिसकना इनके लिये हँसी-खेल सा है। देश परतन्त्र रहे या स्वतन्त्र पूँजीपतियों के लिये एक साधारण बात है। वे तो भोग-विलास और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन ऐसे भी व्यतीत करेंगे और वैसे भी। उनकी प्रभुता उनका स्वदवा, उनका प्रभाव, उनका अधिकार बना ही रहेगा क्योंकि उनके पास धन है। वे पूजी के बल पर सर्वत्र और सब अवस्थाओं में अपनी स्थिति को बिगड़ने नहीं देते।

पूञ्जीपति या सम्पत्तिशाली होना कोई पाप नहीं, यह ठीक है और यह सम्पत्ति यदि एक के पास न होगी तो दूसरे के पास होगी कोई न कोइ तो पूञ्जीपति बनेगा ही। जो जिसके पास सम्पत्ति होगी वही आँखें फेर लेगा, उसके उदारता और दया के भाव उड जाएंगे। यह भी ठीक है। पर पूञ्जीपति में यदि स्वार्थ के साथ साथ कुछ परमार्थ की भावना भी हो तो वह अशान्ति का कारण नहीं बन सकता। स्वार्थान्ध पूञ्जीपति तो घोरतम अशान्ति का कारण बन जाता है।

बडी बडी अट्टालिकाओं और कोठियों के स्वामी जब मजदूरों को काम पर लगाते हैं तो क्या मजदूरी देते हैं? नाममात्र। काम दिन भर करना पड़ता है और मिलता इतना है कि वे कुटुम्ब का पेट भी नहीं भर सकते। पूञ्जी पर आसन जमा कर बैठे हुए लोग यह देते हैं—'इतना लेना है तो लो, नहीं तो जाओ'। उन्हें पता है कि हमारे पास धन है, हमें और अनेक मजदूर मिल जायगे।

मजदूर सोचते हैं—चलो थोड़े पैसों में ही काम कर लो, सम्भव है और कहीं कुछ काम मिले या न मिले। परिणाम यह होता है कि सारा दिन काम करने के पश्चात् जब ये घर जाते हैं तो घर की भूख और अशान्ति की अग्नि उन थोड़े से पैसों से शान्त होने के स्थान पर और भी भड़क उठती है।

एक एक कारखाने में सैकड़ों और सहस्रों मनुष्य काम करते हैं। दयालु और परमार्थी कारखानेदारों को छोड़ कर बहुत से कारखाना के मालिक सदा यही सोचते रहते हैं कि हम किस प्रकार लक्षाधिपति या करोड़ के स्वामी बनें। मजदूरों से काम करवा कर और उन्हें कुछ पैसे दे-दिलाकर शेष सब कुछ हड़पने का विचार उनका पहला सिद्धान्त होता है। अल्प-वयस्क बच्चे और गर्भवती स्त्रियों पर भी उन्हें दया नहीं आती। कोई छुट्टी नहीं, जरा भी अवकाश नहीं। उन मजदूरों का स्वास्थ्य, उनकी शिक्षा, उनका सुख सब एक साथ नष्ट हो जाता है। उनके हृदय अशान्त और निराशा से रहते हैं। अल्पज्ञता और अविवेक के कारण भले ही वे कुछ मस्ती में रहते हों, पर उनके हृदयों के भीतर प्रज्वलित वह अग्नि कभी न कभी उद्दीप्त हो ही जाती है। कारखानों की हड़तालें, बड़े बड़े बलवे, उनके धरने—यह सब कुछ उसी छिपी आग का परिणाम है। चारों ओर अशान्ति की आग धधकने लगती है और वह आग लाठियों, गोलियों, यन्त्रणाओं आदि से भी शान्त नहीं होती। ऐसे काण्ड—क्या भारत और क्या योरप, क्या एशिया के अन्य देश ... अमेरिका—सर्वत्र ही घटित हुआ करते हैं।

स्वार्थ और लोलुपता के वशीभूत हुए पूँजीपति इस जगत् में क्या कुछ नहीं करते ? वे जघन्य से जघन्य कृत्य करने से भी नहीं हिचकिचाते। वे धन के नशे में पापाचरण करने से भी नहीं डरते। उनके बन्धन रहित जीवन का साधारण लोगों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। धनिकों की देखादेखी निर्धन लोग भी वैसे ही अयुक्ताचरणों में लिप्त हो जाते हैं। अमीरों की भांति वे भी व्यसनों में फस जाते हैं। सर्व-साधारण में स्वार्थ लिप्सा की पराकाष्ठा हो जाती है। यों भी पूंजीपति अशान्ति फैलाने के साधन बनते हैं।

कौंसिलों आदि में जाने के लिए पूंजीपति साधारण लोगों में जितनी बुराई फैलाते हैं, लोगों को रुपए की झंकार पर नचा नचा कर अव्यवस्था और अशान्ति के अन्धकूप में जिस प्रकार गिराते हैं वह कोई गुप्त बात नहीं। लोग बुराई की ओर प्रवृत्त होने का पाठ ऐसे ऐसे अवसरों पर ही सीखते हैं। तू-तू, मैं-मैं, गाली गलोज, सिर फुटव्वल और स्थायी वैर उनकी पूंजी की मदान्धता के प्रत्यक्ष फल हैं इनसे चारों ओर अशान्ति फैल रही है।

अच्छी कम्पनियां और सच्चे बैंक भी हैं, पर बहुत सी 'नामी' कम्पनियां और अनेक 'प्रसिद्ध' बैंक धन के बल पर बड़े बड़े और आकर्षक विज्ञापन दे देकर लोगों को अपने झांसे में ले आते हैं, और अपना स्वार्थ पूरा करते जाते हैं। उनके सञ्चालक धरोहर और अमानत को भी नहीं देखते। जो देखा वही अपनी विलास सामग्री और स्वार्थ-साधन वस्तुओं पर खर्च कर दिया। अन्त में भण्डा फूट जाता है और वे दिवालिया

घर आते हैं। ये साधारण लोगों की पूंजी का हड़प कर उन्हें कहीं का नहीं छोड़ते तथा अपने बुरे उदाहरण से लोगों में लूट खसोट और छल-कपट के भावों को फैलाकर सर्वत्र अशान्ति का विस्तार कर देते हैं।

जागीरदारों की अपनी जागीर और पूंजी को बढ़ाने की लालसा खूब अशान्ति फैलाती है। साधारण लोगों को तो वे मनुष्य ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में जीना और सुखी जीवन व्यतीत करने का अधिकार केवल उन्हीं को है, साधारण व्यक्तियों को नहीं। जिस किसी रीति से भूमि पर अधिकार करना, जागीर को बढ़ाना उनका वास्तविक ध्येय होता है। उसके लिये धोखा, झूठ हत्या आदि पापक्रियाएं उनके लिये एक साधारण बात होती हैं। स्वार्थ-पूर्ति के लिये पैसे के इशारे पर लोगों का नचाना उनके बाएं हाथ का खेल है।

बेकारी और भूख को उत्पन्न करने और फैलाने में पूंजीपतियों की स्वार्थान्धता सर्व प्रधान कारण है। एक व्यक्ति तो लाखों में खेलता है, सैकड़ों नौकर-चाकर उसके आगे पीछे फिरते हैं, और दूसरा दाने-दाने को तरस रहा है, भूख के मारे उसके प्राण मुंह को आ रहे हैं, पास फूटी कौड़ी भी नहीं इधर-उधर बाल-बच्चे हृदय बेधी पुकार पुकार रहे हैं, कहीं कोई काम नहीं, कहीं कोई गुजारे का साधन नहीं। एक ही स्थान पर केन्द्रित धन जनता को भूखा मार रहा है। पूंजीपतियों में ज्ञान और दया के कुछ भी भाव हों तो इतने लोग बेकार न रहें, बहुतों को आजीविका [illegible] लगे, कुछ तो शान्ति फैले। पर यहां तो स्वार्थ का [illegible]

अपनी अपनी पूञ्जी को बढ़ाने के लिये किसी न किसी प्रकार से नए नए क़ानून, अनोखे अनोखे नियम बनवाए जाते हैं और भाँति भाँति के उपाय सोचे जाते हैं। साधारण जनता पर उनका बुरा प्रभाव होगा वह पिस जायगी, उसमें दुःख और अशान्ति छा जायगी, इस बात की सम्पत्ति के उपासकों को कुछ चिन्ता नहीं होती। उन्हें तो अपने स्वार्थ से प्रयोजन है। इसी स्वार्थ की सिद्धि के लिये वे देश के हानि-लाभ को भी नहीं सोचते।

पूञ्जीपतियों की स्वार्थान्धता राजनैतिक-अशान्ति का भी मूल-कारण है। जब अपने देश में पूञ्जीपतियों की स्वार्थान्धता अन्तिम सीमा को पहुँच जाती है और साधारण लोगों के रहने और खाने के लिये कुछ नहीं बचता तब उन्हें रहने के लिये भूमि और खाने के लिये भोजन ढूँढ़ने के लिये बाहर की ओर देखना पड़ता है। तब और देशों पर चढ़ाइयाँ होती हैं। रक्तपात और विध्वंस के अध्याय आरम्भ होता है। मनुष्य, पशु, धन, अन्न आदि का इतना अधिक नाश होता है कि वर्षों तक उसकी पूर्ति नहीं हो पाती, अनाथ बच्चे और विधवा स्त्रियाँ रोती हैं। रोग, महामारियाँ, अकाल और लूट-खसोट की खूब बन आती है। जिधर देखो उधर ही प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगता है। इन संग्रामों का प्रभाव सारे संसार पर पड़ता है। उद्दण्ड जातियों के हौसले बढ़ जाते हैं। सर्वत्र अनन्त अशान्ति का पारावार उमड़ आता है। अपनी वस्तुओं की खपत के लिये अपनी सम्पत्ति की वृद्धि के लिये देशों को समाचार-पत्रों द्वारा, राजनीतिज्ञों द्वारा या अन्य साधनों द्वारा युद्धार्थ उकसाना भी पूँजीपतियों का काम हुआ करता है। कहा जाता है कि गत यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ करवाने में

अस्त्र-शस्त्र की एक बड़ी भारी फैक्टरी के एक हिस्सेदार का भी हाथ था। यह हिस्सेदार राजनीति में प्रधान स्थान रखता था अथवा राजकीय विभाग में उच्च-पदाधिकारी था। उस पूँजीपति की स्वार्थन्धता ने कितना अनर्थ किया कितनी खून खराबी करवाई, कितने घरों को बर्बाद किया, कितने धन-जन का संहार किया, कितनी अशान्ति फैलाई, यह सर्व-विदित ही है।

जिधर दृष्टि डालो उधर ही पूँजीपतियों के शिकन्जे तैयार मिलते हैं। जहाँ जाओ वहीं इनकी स्वार्थ-भावना पूरी हो रही होती है। जिसे पूछो वही इनकी यन्त्रणा से उत्पीड़ित होता है। इनका पूँजी का हाथ इतना लम्बा और इतना दृढ़ है कि आकाश से तारे तक तोड़ लेता है। घर में, बाजार में, थाना में कहीं भी ये पीछा नहीं छोड़ते। इनका जाल बहुत घना है। पूँजी के नशे में ये देश की स्वतन्त्रता तक का परित्याग कर देते हैं। उठने वालों को ये कभी उठने नहीं देते। आगे बढ़ने से ये सदा रोका करते हैं। इन्हें किसी विषय की चिन्ता है तो अपने स्वार्थ की, अपना धन बढ़ाने की। इनकी स्वार्थान्धता अशान्ति का प्रसार करने का मुख्य कारण है। क्या ही अच्छा हो यदि इनमें सहानुभूति, दया, दाक्षिण्य और अनुकम्पा के भाव जागृत हों।

—गोपालचन्द्र देव

साहित्य सेवियों का भी अपना निराला ही मार्ग होता है। किसी लोभ और स्वार्थ के अधीन होकर साहित्य-सेवा करनी वास्तव में सेवा नहीं कहला सकती। निःस्वार्थ भाव से साहित्य की सेवा करने वालों का जन्म कृतकृत्य है। ऐसे लोगों का साहित्य अमर होता है। सच्चे साहित्य सेवियों का नाम कभी नहीं मिटता।

दीन-दुखियों की सुश्रूषा का कार्य अनन्त महत्ता रखता है। दुःखी की सेवा करने के लिये जिसके करों में गति आती है, डूबते हुए को थामने के लिये जिसका हाथ आगे बढ़ता है वह महा परहित-चिन्तक है। सेवा-धर्म की यथार्थ भावना की ऐसे अवसरों पर ही परीक्षा हुआ करती है। मलीमस और दुर्गन्धयुक्त प्राणी की सेवा के लिये जो सबसे आगे बढ़ता है उससे बढ़कर वीर-हृदय तथा हृद्‌चेता और कौन होगा? बालचर, स्वयंसेवक आदि का आधार सेवा-धर्म ही है। रातों जाग कर, पहरों भूखे रह कर, कोसों चल कर, घण्टों खड़े रह कर और मीलों भागकर हँसते हँसते सेवाधर्म में निरत रहना उन्हीं का काम है।

धर्म की सेवा में सर्वस्व बलिदान कर देने वाले प्राणी सदैव जीवित हैं। उनका भौतिक शरीर चाहे विद्यमान न हो, और वह तो किसी का भी नहीं रहता, पर उनका यश शरीर अपने पूर्ण सौन्दर्य और यौवन के साथ दिखाई देता है। वह न कभी जरा-जीर्ण होता है और न कालकवलित होता है। उसका ढाँचा इतना सुदृढ़ और अनश्वर है कि चोट पर चोट पड़ने पर भी उसका बाल बाँका तक नहीं होता। धर्म-वीर हकीकतराय की धर्म सेवा इतनी अमूल्य है कि उसका दाम आँकना नितान्त असम्भव है।

माता पिता की सेवा करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। कितने दुःख उठाकर, कितनी आपत्तियाँ झेलकर वे अपनी सन्तान का पालन करते हैं। उनके उपकारों का, उनकी सेवाओं का बदला किसी प्रकार भी चुकाया नहीं जा सकता। इतना होने पर यदि मनुष्य विद्या, यौवन, धन आदि की मदान्धता में उनका सम्मान और उनकी शुश्रूषा नहीं करता या यों ही गर्व में अथवा मूर्खता से उनकी सेवा से मुह मोड़ता है तो वह महाकृतघ्न है। श्रवणकुमार सा मातृ पितृ-सेवा का भाव हृदय हृदय में जाग उठे तो यह जगत् सुख और शान्ति का आगार बन जाय। गुरु-सेवा के बिना विद्यालाभ कठिन होता है। विद्याप्राप्त करके भी जो गुरुओं की, शिक्षकों की, सेवा में मन नहीं लगाते उनकी विद्या निष्फल जाती है। इसी प्रकार भाई-बहिनों की सेवा भी प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। यतिश्रेष्ठ वीरवर लक्ष्मण की निःस्वार्थ भ्रातृ-सेवा इसका अनुपम उदाहरण है। चौदह वर्ष पर्यन्त सर्वविध राम सेवा में निरत रहने वाले उस सच्चे सेवक की उच्चता अप्रतिम है। दिन-रात, सम्पत्ति-विपत्ति मे राम और सीता की सेवा के रंग में रंगे लक्ष्मण के सम्बन्ध में कविवर मैथिलीशरण गुप्त जी के निम्नलिखित पद्य भरपूर प्रकाश डालते हैं—

"पञ्चवटी की छाया में है सुन्दर पर्णकुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीकमना।
जाग रहा यह कौन धनुर्धर जबकि भुवन भर सोता है,
भोगी कुसुमायुध योगी सा बना दृष्टिगत होता है॥
किस व्रत में है व्रती वीर यह निद्रा का यों त्याग किये,
राजभोग के योग्य विपिन मे बैठा आज विराग लिये।

घरा हुआ है महर्षि जिसका इस कुटीर में क्या धन है ?
जिसकी रक्षा में रत इसका तन है, मन है, जीवन है ॥"

बड़े बूढ़ों का बात बात में परिहास करने वालों और उनके कथन को सर्वथा अमान्य समझने वालों को सेवाधर्म के तत्त्व का पता नहीं। एक कवि कहता है कि वृद्ध-वृद्धों की सेवा करने वाले व्यक्तियों की आयु, विद्या, कीर्ति और शक्ति वृद्धि को प्राप्त होती है। इस कथन की वैज्ञानिक विवेचना न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसमें किंचित् भी असत्य नहीं और यह अनुभव का विषय अधिक है।

स्वामी की सेवा की विशेषता भी किसी से कम नहीं औरों से इस में इतना ही भेद है कि ये सेवाएँ किस्सार्थ भाव से की जाती हैं और यह सेवा स्वार्थप्रधान होती है। फिर भी सेवाधर्म के इस अंग से सेवक का मनुष्य जगत् में पर्याप्त उच्च स्थान है। समय कुसमय का विचार किये बिना ही प्रत्येक कार्य करने के लिये सदा तत्पर रहने वाले सेवक की महत्ता समझनी चाहिये। स्वामी की झिड़कियों पर भी कुछ ध्यान न देकर, मान-अपमान की भी कुछ परवाह न करके अपने कर्तव्यपालन में दत्तचित्त रहने वाले सेवकों का तुच्छ समझने वाले स्वयं तुच्छ हैं।

भारतीय अतिथि-सेवा की उपमा अन्यत्र कहीं न मिलेगी। इन दिनों भी इस देश में अतिथि सेवा के उत्कृष्ट उदाहरण दिखाई देते हैं, जब कि इस देश को 'भाग-भूला-बटोही' कहा जाता है। अतीत का यह पुण्य दृश्य, भूतकाल की वह गरिमा आज भी नेत्रों में आनन्दाश्रु ला देती है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में जब यह प्रश्न उठा कि अतिथियों के पाँव धोने का भार

पौन करे, तो उस समय द्वारिकाधीश जगत्पूज्य योगिराज श्रीकृष्ण अपने पीताम्बर को सम्भालते हुए और मुसकराते हुए इस भार को अपने ऊपर ले लेते हैं। सेवाभाव की महत्ता को वे पूर्णतया जानते थे। देश देशान्तरों से आए हुए लोगों के पैरों की धूलि को धोने वाले उस साँवले कृष्ण को ही अन्त में उस यज्ञ की प्रधानता के योग्य समझा गया।

सेवाधर्म में निज-सेवा को इसलिये स्थान दिया जाता है कि मनुष्य अपना ध्यान स्वयं रख सके, अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण कर सके। उसे स्वावलम्बन की उपयोगिता का पता चल जाय। स्वावलम्बन ही निज सेवा है। स्वावलम्बी पुरुषों में पर-हित चिन्तन का भाव अधिक होता है। इससे पर-सेवा का मार्ग दिखाई देता है। सेवकों पर बहुत अधिक आश्रित न रहने वाले लोग उन्हें विश्राम करने का पर्याप्त अवसर देकर एक प्रकार से उनकी सेवा ही करते हैं। विदेशी वस्तुओं के सहारे न रहना स्पष्ट रूप से अपने देश के निर्धनों की सेवा करना है।

सेवा सुश्रूषा की जिनमें स्वाभाविक लग्न होती है, वे उच्च से उच्च कार्य कर जाते हैं। फ्लोरेंस नाइटिंगेल अभी नन्ही सी बालिका ही थी कि उसका सेवाधर्म का भाव प्रकट हो गया। एक कुत्ते को घायल हुआ देखकर उसके हृदय में अनुकम्पा और सहानुभूति की भावना जागृत हो उठी। उसने तत्काल ही उस कुत्ते की मरहम पट्टी करनी आरम्भ कर दी। कुछ ही दिनों में कुत्ते की दशा सुधर गई। यही देवी आगे चल कर संसार के सामने सेवाधर्म का ऐसा अनुपम उदाहरण उपस्थित कर गई कि जिसकी प्रशंसा सारी दुनिया मुक्तकण्ठ से कर रही है।

यूरोपीय महासमर के समय इसने घायलों की सेवा के लिय अनुज्ञा मांगी। इसे मुख्य नर्स बनाकर भेज दिया गया। उस समय स्कूतरी का रुग्णालय घायल अंग्रेजी सैनिकों से भरा पड़ा था। वहां बीमारी भी फैल रही थी। प्रतिदिन घायलों और रोगियों की संख्या में वृद्धि होती जा रही थी। उस हस्पताल की दशा के सुधरने की कोई आशा न थी। ऐसे समय में फ्लोरैन्स नाइटिंगेल ने सारा कार्य-भार अपने साहस-पूर्ण कन्धों पर लिया। उसकी निःस्वार्थ सेवा से घायल और रुग्ण सिपाही शीघ्र ही स्वस्थ हो होकर समरभूमि में जाने लगे। इस प्रकार सेवा की मूर्ति फ्लोरेन्स की वह सेवा वहां की आशातीत विजय का मुख्य कारण बनी।

सेवाधर्म बहुत गहन है। इसका पार पाना सहज नहीं। सेवाधर्म में प्रवृत्त तो बहुत होते हैं, पर अन्त तक पूरा निर्वाह करने वाले थोड़े हैं। हानि अपमान, कटुवाक्य, झिड़क, फटकार आदि की विद्यमानता में भी सेवाधर्म में दृढ़ रहने वाले व्यक्ति अधिक नहीं हैं। उस समय माता पिता, गुरु, भाई-बन्धु, देश, धर्म आदि किसी की भी सेवा में रत रहना कठिन हो जाता है। इन अवसरों पर भी सेवाधर्म से विमुख न होने वाला मनुष्य महात्मा है।

सेवाधर्म में बहुत शक्ति है। ऊँचे उठाने का यह महामन्त्र है। इससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों की पूर्ति होती है। पर-हृदय पर विजय पाने के लिए, दूसरे को अपने वश में करने के लिये यह ही एकमात्र साधन है। इसकी महत्ता सर्वत्र दिखाई देती है। प्रेम के प्रासाद का यही प्रकाश है। यह पूज्य पुरुषों का मुख्य प्रसाद है।

सेवा के बिना मेवा नहीं। प्रकृति सेवाधर्म से सर्वत ओत-प्रोत है। सूर्य, चन्द्र, तारे, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, फल, फूल आदि अहर्निश प्राणिमात्र की सेवा कर रहे हैं और इससे कभी विरम नहीं होते। शीतल जल प्रवाहिणी तटिनिया, निर्मल वारि पूरित तडाग, नाना पदार्थों के आकर पर्वत पलमात्र के लिये भी सेवाधर्म का परित्याग नहीं करते। वर्षा की झडी लगा कर अखिल विश्व की पालना करने वाले मेघ सेवाधर्म में सदा से निरत हैं। पशु और पक्षी भी सेवाधर्म को निभाते हैं। चारों दिशाओं को सुखमय सगीत से आप्लावित करने के लिये सेवाधर्म को स्वीकार करना हमारा सब का कर्तव्य है।

गोपालचन्द्र देव

(२६)

भारतीय-शौर्य

समरांगण में विक्रम का पूरा पूरा प्रदर्शन शौर्य है। शूर नर रणभूमि को हँसी खेल समझता है। वीरों की असिधारा के सम्मुख गिरि-सम रिपु भी नहीं ठहर पाते। रण बाँकुरे की युद्ध क्रीडा कायरों को कँपा डालती है। शत्रु के हृदय से शूर व्यक्ति के प्रति 'वाह वाह' की ध्वनि निकलती है। इन शताब्दियों से पूर्व भारतीय शौर्य बहुत उन्नत था। भारत की प्राचीन वीरता के गीत विदेशी तक हृदय खोल कर गाते हैं—उसकी छाप अब तक उनके मन पर अङ्कित है।

भारतीय-शौर्य की थाह अब तक कोई देश नहीं पा सका। राम-लक्ष्मण से युद्धवीर कहाँ दिखाई देते हैं? तपस्वियों का वेश धारण किए हुए उन वीरों ने युद्ध में अद्वितीय शक्ति दिखलाई। मेघनाद, कुम्भकर्ण रावण जैसे विश्व भर को विजय करने वाले दुर्धर्ष वीरों को और उनकी बलशालिनी असंख्य सेना को अपनी शौर्याग्नि में स्वाहा करने वाले दोनों भाइयों को इसीलिये भारत का बच्चा बच्चा प्रतिपल स्मरण करता है। कितनी उनमें शक्ति थी! कितना उनमें उत्साह था! राम की अन्य कारणों से इतनी प्रतिष्ठा है, यह बात नहीं। महावीर हनुमान् के शौर्य को कौन पा सकेगा? वे सीता की खोज में अकेले ही लंका पहुँचते हैं। माता सीता को ढूँढ कर अपना परिचय देकर क्षुधा निवारण के लिये

राजकीय उद्यान में जाने की आज्ञा ले लेते हैं। अल्पकाल में ही सारा बगीचा उजड़ गया। रक्षक दौड़े आए, पर वीरवर के सामने ठहर न सके। रावण-पुत्र भी जीता न बचा। अन्त में मेघनाद के साथ रावण के दरबार में पहुँचे। कपड़े बाँध कर आग लगा देने की आज्ञा हुई। पर धन्य बजरङ्गी! तुमने सारी लङ्का को जलाकर भस्म कर डाला। अङ्गद की शूरता असाधारण थी। रावण के बड़े बड़े वीर उसके पाँव को हिला न सके। शौर्य की ऐसी मूर्तियों की आज भारत में अतीव आवश्यकता है।

भौमकाय दैत्यों को यमपुर पहुँचाकर कृष्ण ने राक्षसराज कंस का भरी सभा में संहार किया। शिशुपाल जैसे महा पराक्रमी राजा का सिर काट कर लोगों को सङ्कटों से मुक्त किया। श्रीकृष्ण का अंग अंग शूरता से ओत प्रोत था। भय और चिन्ता का उनमें लेश भी न था। उस समय जरासन्ध एक विक्रमशाली और अत्याचारी शासक था। सहस्रों राजा उसके कारागार में पड़े जीवन की घड़ियाँ गिन रहे थे। वीर श्रीकृष्ण ने उसका संहार अनिवार्य समझा। कृष्ण, अर्जुन और भीम तीनों महावीर उसके पास जा पहुँचे। कृष्ण ने गम्भीर स्वर में कहा—जरासन्ध, हम तीनों में से जिसके साथ चाहो लड़ सकते हो। अ म्य उत्साह था। उस गज जैसे भयंकर जीव से युद्ध करने के लिये उनमें पूरा सामर्थ्य था। किन्तु जरासन्ध ने भीम को युद्ध के लिये चुना। पर भीम तो भीम ही था। शौर्य और शक्ति का पर्वत था। उस लौह शरीर ने जरासन्ध को चीर कर रख दिया। भीम सा बली आज एक कल्पना मात्र है। कहाँ भारत के ऐसे ऐसे शूर और कहाँ आज कल के पुरुष! भीम का इतना आतंक था कि

उसका नाम लेते ही शत्रु-सेना भाग जाती थी। दुष्ट कीचक को भीम ने बहुत ही बुरी तरह मारा। बलशाली भीम भारत की शान था। शौर्य की प्रज्वलित प्रतिमा भीष्म किस देश के इतिहास में विद्यमान है। द्रोण जैसा शूरता और शक्ति का भण्डार भारत में ही हुआ था। कर्ण, शल्य, दुर्योधन आदि बड़े बड़े वीर भारत के अनुपम उदाहरण थे। डर और आशंका का जिनमें नाम भी न था। भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य आदि योद्धाओं का संहार करने वाला शौर्यपुञ्ज अर्जुन! आहा! नाम लेते ही हृदय में असीम उत्साह का संचार हो जाता है। उसकी शूरता के आगे जगत्‌भर की शूरता लजाती है। अर्जुन के भुज-दण्डों में कई अक्षौहिणी सेनाओं का सर्वनाश करने की शक्ति थी। उसकी तुलना असम्भव है। वीरश्रेष्ठ अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु के शौर्य की प्रशंसा कौन न करेगा? क्या भारतीय उसे भूल सकते हैं? अर्जुन किसी दूसरी ओर घनघोर युद्ध मचा रहे हैं। इधर जयद्रथ चक्रव्यूह बना कर पाण्डव-पक्ष का संहार कर रहा है। युधिष्ठिर एक बार विचलित हो उठते हैं। उन्हें व्याकुल देख अभिमन्यु उस चक्रव्यूह को तोड़ डालने का विश्वास दिलाता है। अन्त में अभिमन्यु उस व्यूह में जा घुसा। चारों ओर हाहाकार मच गया। प्रलय का दृश्य दिखाई देने लगा। शत्रुओं के रुण्ड मुण्ड आकाश में उड़ने लगे। सारी शत्रु सेना घबरा गई। बड़े बड़े योद्धा भी उस शूर के सामने ठहर न सके। सैकड़ों रण में काम आए। तब सारे महारथियों ने मिल कर उस अकेले वीर पर प्रहार किया। अभिमन्यु के अस्त्र-शस्त्र धीरे धीरे नष्ट होने लगे। अन्त में उसने रथ का पहिया उठाकर ही युद्ध जारी

गया पर वह भी न बच सका और उस वीर ने वीरगति पाई। युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, धृष्टद्युम्न आदि वीर भारतीय-शौर्य के चमक्त तारे हैं।

भारतवर्ष में जहां विद्या, सभ्यता, सदाचार, कला-कौशल और व्यापार उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे, वहां शूरता भी किसी से पीछे न थी। शौर्य को तो भारत में मुख्य स्थान मिला है। भारत वीर-पुरुषों की खान रहा है। सिकन्दर जैसे विश्व-विजेता को भी भारत के वीरों के सामने मस्तक झुकाना पड़ा था। सिकन्दर की मृत्यु के अनन्तर उसका साम्राज्य उसके सेनापतियों ने बांट लिया। उनमें से सल्यूकस ने जीते हुए प्रदेशों पर पुनरधिकार करने के लिये भारत पर आक्रमण किया। उस समय भारतीय साम्राज्य की बागडोर चन्द्रगुप्त मौर्य के हस्तगत हो चुकी थी। चन्द्रगुप्त ने सैल्यूकस को नाकों चने चबवा दिये। भारतीय योद्धाओं के सामने यूनानी-दल ठहर न सके और अन्त में सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त से मैत्री स्थापित करके युद्ध से पीछा छुड़ाया। इतिहासज्ञ लिखते हैं कि उस समय प्रत्येक भारतीय पूरा योद्धा होता था। सच तो यह है कि शूरता और निर्भीकता की घुटी भारतीय बालकों को जन्म से ही पिलाई जाती थी। आज वह एक स्वप्न है! बिन्दुसार, अशोक, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्ष आदि वीरों की याद आते ही भारतीय गौरव की झांकी दिखाई दे जाती है। भारत! लाखों वर्षों के सञ्चित शौर्य को तू क्यों छोड़ बैठा है?

राजपूतों की वीरता को भारत का इतिहास ऊँचे स्वर से गा रहा है। यवन आक्रमणकारियों को छटी का दूध याद दिलाने

वाले भारतीय वीरों से भारत का मस्तक इस पतितावस्था में भी उन्नत है और भविष्य में भी उसे कोई नीचे न कर सकेगा। भाग्य-वश या त्रुटियों के कारण अथवा संगठन के अभाव से भारतवासी परतन्त्र हो गए। यह एक अमिट कलङ्क है। फिर भी उनके शौर्य के आगे विदेशियों की वीरता तुच्छ है। पृथ्वीराज, अनगपाल, राणा संग्रामसिंह आदि योद्धाओं की वीरता को याद किये बिना रहा नहीं जा सकता। वाप्पारावल, भीमसिंह, बदल, काका कान्ह, हम्मीरराव-राणाकुम्भा जैसे संगर-क्रीड़ा-प्रिय वीरों में शौर्य का समुद्र ठाठें मारता था।

वीर केसरि सरजा शिवाजी और महाराणा प्रतापसिंह यवन काल के भारतीय शौर्य के सूर्य और चन्द्र हैं। हिन्दूपति के निर्दय के आश्रित खड्ग ने शत्रुओं का शोणित भरपेट पिया था वैरियों की बोटी बोटी नोच कर भी वह तृप्त न होती थी। केवल अपने शौर्य और उत्साह के बल पर वीर शिवाजी ने देश को अत्याचारियों के पञ्जे से छुड़ाने का बीड़ा उठाया था और वे इसमें सफल भी ऐसे हुए कि इतिहास में वैसा उदाहरण मिलना कठिन है। पहले पहल बीजापुर के सुलतान से टक्कर लगी। वह भुंभला उठा। गोद में बैठ कर नाक में उंगली वाली बात थी। उसने शिवाजी को उनके पिता शाहजी द्वारा शान्त करना चाहा, शाह जी को कैद कर के धमकी देकर काम निकालने की युक्ति निकाली, परन्तु शिवाजी पूरे शूर थे, वे किसी प्रकार भी अपने मार्ग से विचलित न हुए। आक्रमण पर आक्रमण हुए, पर उस वीर के शौर्य के सामने कोई न ठहर सका। स्वतन्त्र-राज्य की सीमा बढ़ती चली गई। धूर्त अफजलखाँ

जैसे योद्धा को नर-सिंह शिवाजी ने एक ही झटके में पार कर दिया। अन्त में अली आदिलशाह स्वयं चढ़ दौड़ा, पर उसे भी मुंह की खानी पड़ी। तब उसने शिवाजी की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली। उसके बाद शौर्य और वीर्य की प्रतिभा शिवाजी ने मुगलों की ओर ध्यान दिया। शाइस्ताखाँ जैसे सेनानायक ससैन्य दल-बल सहित चढ़ दौड़े। पूना हथिया लिया गया। पर असीम साहसी वीर शिवाजी ने उसको ऐसा भगाया कि जन्म भर न भूला होगा। शिवाजी की शूरता का यदि विस्तृत वर्णन किया जाय तो एक बड़ा भारी ग्रन्थ बन जाय। परतन्त्रता के बन्धन को बलात् काटकर फेंक देने वाले शूरवीर शिवाजी हमारे हृदय के देवता हैं। महाराणा प्रताप की युद्ध चातुरी, उनकी शूरता, संसार भर को आश्चर्य-चकित कर देती है। अपनी नीति और शक्ति से भारत के अधिकांश भाग पर अपना प्रभुत्व जमाने वाला अकबर उनके भय से काँपा करता था। राजपूताने की यह अग्नि उसके मनोरथ-वन को जलाए डालती थी। हल्दीघाटी का युद्ध जीवन और मरण का प्रश्न था। चेतक पर सवार महाराणा की तलवार और उनका भाला शत्रु सेना को निढाल डालता था। कुछ हजार मेवाड़ियों के साथ राणा ने प्रबल शत्रु की अगणित सेना में घुस कर ऐसे हाथ दिखाए कि शत्रु सेना के छक्के छूट गए। उस वीर महापुरुष ने वनों और कन्दराओं में भटक भटक कर अनेक संकट सहे, पर शत्रु के सामने झुकना स्वीकार न किया। अन्त में उसने मेवाड़ को विजय करके ही छोड़ा। उस महावीर की शक्ति को देखकर इतिहास-लेखक भी दंग हैं।

की स्मृति मात्र से हृदय बल्लियों ——→

लगता है। भाई राज्य भार सौंप कर किसी युद्ध निमन्त्रण में गए थे। एक यवन ने नगर में आकर घोषणा की कि जिसमें शक्ति हो मुझसे खड्ग-युद्ध करे। वह समय क्षत्रियत्व का था। शत्रु के आह्वान का उत्तर न देना अपनी वीरता को कलङ्कित करना था। और वह नगर तो रिपु की उद्दण्डता को कभी भी नहीं सह सकता था। युद्ध के लिये स्थान निश्चित हुआ। वहा सारा नगर इकट्ठा हो गया। बडा भयकर सामना था। एक चुने हुए तलवार चलाने वाले को मुकाबले पर उतारा गया था। दर्शकों के हृदय की गति तीव्र थी। अन्त में यवन की तलवार उस वीर के हृदय के पार होगई। प्रजा धक सी रह गई। पर वीर हरदौल के शौर्य ने उसे उद्वेलित कर दिया और उसने दूसरे दिन स्वय युद्ध करने की घोषणा कर दी। जनता चित्र-लिखित सी हो गई। प्रत्येक के हृदय में भिन्न भिन्न विचार चक्कर काटने लगे। आज के परिणाम को सोच सोच कर सब के सब चिन्ता के सागर में डूबने लगे। दूसरे दिन अत्यन्त शक्तिशाली हरदौल ने भाई की खड्ग लेकर रण भूमि में पाव रखा। एक बार तो चतुर्दिक् हर्ष ध्वनि से प्रतिध्वनित हो उठा, पर शीघ्र ही सन्नाटा छा गया। इधर हरदौल थे, उधर वह यवन। कभी ये विजय पाते दिखाई देते थे और कभी उसका जोर दृष्टिगोचर होता था। अन्त में हरदौल ने एक ऐसा हाथ मारा कि प्रतिद्वन्द्वी की देह भूमि पर गिर कर तडप तडप कर शान्त हो गई।

शूरता के उपासक गुरु अर्जुनदेव, तेगबहादुर, गोविन्दसिंह, बन्दा बैरागी, महाराना रणजीत सिंह, सेनापति हरिसिंह नलुवा, मूलराज आदि वीरों की प्रसव भूमि भारत, तेरी महत्ता किसी से

कम नहीं। ऐसे ऐसे वीरों के उत्पत्ति स्थान भारत का पतन सचमुच हृदय में वेदना उत्पन्न कर देता है।

भारत की वीर नारियों की समता अन्य देश की नारियां नहीं कर सकतीं। रानी दुर्गावती का नाम इतिहास में [illegible] लिखा गया है। रानी सारन्धा और जसवन्त सिंह की [illegible] शौर्य पुरुषों की वीरता को भी अकिञ्चित समझता है। [illegible] रानी का युद्ध कौशल विदेशियों को भी विस्मित कर [illegible] है। रानी हाडा आदि और भी अनेक शूर स्त्रियों [illegible] इतिहास भरा पड़ा है। इस पतितावस्था में भी भारत की [illegible] में अनन्य शौर्य विद्यमान है। मोपला हत्याकाण्ड में [illegible] १३ वर्षीय बालिका का दुष्ट, नीच और [illegible] उनके हाथ से तलवार छीन कर यमपुर पहुँचाना और [illegible] शूरता का ज्वलन्त उदाहरण है। अभी [illegible] डाकुओं का संहार करने वाली एक [illegible] नाद से सारा भारत गूँज उठा था।

भारत के बालकों तक में शूरता [illegible] थी। भारतीय बच्चे शेरों से खेला करते थे। [illegible] आदि की वीरता वीरता को चरितार्थ करती थी। [illegible] पराक्रमी बालक भारत के नाम को [illegible] करते हैं। भारतीय वीर बालकों की शूरता पर [illegible] है।

यूरोपीय महायुद्ध में भारतीय सेनाओं ने शौर्य का [illegible] आश्चर्य-जनक उदाहरण उपस्थित किया [illegible] संसार [illegible] आंखें खुल [illegible]। शतघ्नियों और [illegible] की और [illegible] मार कर शत्रु पर आक्रमण [illegible]

के अनुसार ज्यों ज्यों मनुष्य सभ्य और उन्नत होते जाते हैं पद्य के स्थान पर गद्य का प्रचार होने लगता है। पहले जो पद्य देश के लोगों के हृदयों को आन्दोलित कर डालता था, वही नवीनयुग में कुछ भी असर नहीं दिखा सकता। पूर्वकाल में लोग जिस पद्य को सुन कर वाह वाह करते और झूमने लगते थे, सभ्यता के काल में उसी पद्य को लोग मूर्खों का विषय समझते हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी मत है। उनकी दृष्टि में पद्य किसी काल की उन्नति का द्योतक है। गद्य सर्व-साधारण में व्यवहार का साधन होता है, और पद्य सहृदय और रसिक जनों की मानस-तृप्ति का हेतु। बुद्धिमान और सुपठित समाज का समय पद्यों की चर्चा, और पद्यों के पाठ में व्यतीत होता है। एक दृष्टि से पद्य की अपेक्षा गद्य सरल है। जब लोगों के मस्तिष्क शिथिल और हृदय भाव-शून्य हो जाते हैं तो वे पद्य को छोड़ गद्य का आश्रय लेते हैं। उस समय उनमें न तो पद्य-निर्माण की शक्ति होती है और न पद्य को समझने की भावना।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में पद्य का ही प्रचार था। एक प्रकार से गद्य का आरम्भ या प्रचार १९वीं शताब्दी में हुआ है। इसी प्रकार अन्य देशों की भाषाओं में भी गद्य से पहले पद्य की प्रधानता रही है। आज की अपेक्षा पहले काल के लोग असभ्य और जङ्गली थे, यह भी कहा जाता है। जैसे जैसे सभ्यता बढ़ती गई, वैज्ञानिक आविष्कार होते गए, गद्य अपना प्रभुत्व जमाता गया। और इन दिनों पद्यों को कोई पूछता ही नहीं। इस प्रकार पहले सिद्धान्त में बहुत कुछ सचाई प्रतीत होती है, परन्तु दूसरे मत की पुष्टि के लिये भी अनेक प्रमाण

है। तुलसीदास और सूरदास जैसे कवि आजकल उत्पन्न नहीं हो रहे। उन जैसी पद्य निर्माण करने की शक्ति इन दिनों नहीं रही। उन पद्यों को समझने वाले भी कम हैं। समाज का हृदय इतना भावशून्य हो चुका है कि सूरदास के एक पद्य को समझने के लिये समय चाहिये। इस पर भी यह कौन जानता है कि भविष्य में कोई तुलसीदास या सूरदास उत्पन्न न हो जायगा ? तो क्या वह काल आजकल की अपेक्षा असभ्यता-पूर्ण होगा ? यों विकासवाद का सिद्धान्त कैसे स्थिर रह सकेगा ?

यह संसार परिवर्तनशील है। जो दृश्य आज दिखाई देता है, वह कल दृष्टिगोचर नहीं होता और जो कल दिखाई देगा वह आज विद्यमान नहीं है। किसी भी देश की अवस्था सदा एक सी नहीं रही। भाषाओं में भी परिवर्तन होता रहा है। हिन्दी भारतवर्ष की भाषा अनादि काल से नहीं है। इससे पहले अपभ्रंश भाषाएं और उनसे भी पहले प्राकृत और संस्कृत भाषाएं प्रचलित थीं। संस्कृत भाषा को ही लिया जाय। संस्कृत में पद्य साहित्य का बहुत मान और प्रचार रहा है। पहले सिद्धान्त के अनुसार यदि विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत के पूर्वकाल में पद्य का ही प्रचार था। गद्य का तो निर्माण हुआ ही नहीं अथवा पीछे से नाममात्र की रचना गद्य में हुई। पर इसे यदि भ्रम कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। दर्शनशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, निरुक्त आदि गद्य-ग्रन्थों की रचना रघुवंश आदि-पद्य ग्रन्थों से प्राचीन है। अच्छा, थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि इन गद्य ग्रन्थों का निर्माण रघुवंश आदि पद्य की पुस्तकों के पीछे हुआ और गद्य

के अनुसार ज्यों ज्यों मनुष्य सभ्य और उन्नत होते जाते हैं पद्य के स्थान पर गद्य का प्रचार होने लगता है। पहले जो पद्य देश के लोगों के हृदयों को आन्दोलित कर डालता था, वही नवीनयुग में कुछ भी असर नहीं दिखा सकता। पूर्वकाल में लोग जिस पद्य को सुन कर वाह वाह करते और झूमने लगते थे, सभ्यता के काल में उसी पद्य को लोग मूर्खों का विषय समझते हैं। इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी मत है। उनकी दृष्टि में पद्य किसी काल की उन्नता का द्योतक है। गद्य सर्व-साधारण में व्यवहार का साधन होता है, और पद्य सहृदय और रसिक जनों की मानस-तृप्ति का हेतु। बुद्धिमान और सुपठित समाज का समय पद्यों की चर्चा, और पद्यों के पाठ में व्यतीत होता है। एक दृष्टि से पद्य की अपेक्षा गद्य सरल है। जब लोगों के मस्तिष्क शिथिल और हृदय भाव-शून्य हो जाते हैं तो वे पद्य को छोड़ गद्य का आश्रय लेते हैं। उस समय उनमें न तो पद्य-निर्माण की शक्ति होती है और न पद्य को समझने की भावना।

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आदि काल में पद्य का ही प्रचार था। एक प्रकार से गद्य का आरम्भ या प्रचार १९वीं शताब्दी में हुआ है। इसी प्रकार अन्य देशों की भाषाओं में भी गद्य से पहले पद्य की प्रधानता रही है। आज की अपेक्षा पहले काल के लोग असभ्य और जङ्गली थे, यह भी कहा जाता है। जैसे जैसे सभ्यता बढ़ती गई, वैज्ञानिक आविष्कार होते गए, गद्य अपना प्रभुत्व जमाता गया। और इन दिनों पद्य को कोई पूछता ही नहीं। इस प्रकार पहले सिद्धान्त में बहुत कुछ सचाई प्रतीत होती है, परन्तु दूसरे मत की पुष्टि के लिये भी अनेक प्रमाण

हैं। तुलसीदास और सूरदास जैसे कवि आजकल उत्पन्न नहीं हो रहे। उन जैसी पद्य निर्माण करने की शक्ति इन दिनों नहीं रही। उन पद्यों को समझने वाले भी कम हैं। समाज का हृदय इतना भावशून्य हो चुका है कि सूरदास के एक पद्य को समझने के लिये समय चाहिये। इस पर भी यह कौन जानता है कि भविष्य में कोई तुलसीदास या सूरदास उत्पन्न न हो जायगा ? तो क्या वह काल आजकल की अपेक्षा असभ्यता-पूर्ण होगा ? यों विकासवाद का सिद्धान्त कैसे स्थिर रह सकेगा ?

यह संसार परिवर्तनशील है। जो दृश्य आज दिखाई देता है वह कल दृष्टिगोचर नहीं होता और जो कल दिखाई देगा वह आज विद्यमान नहीं है। किसी भी देश की अवस्था सदा एक सी नहीं रही। भाषाओं में भी परिवर्तन होता रहा है। हिन्दी भारतवर्ष की भाषा अनादि काल से नहीं है। इससे पहले अपभ्रंश भाषाएं और उनसे भी पहले प्राकृत और संस्कृत भाषाएं प्रचलित थीं। संस्कृत भाषा को ही लिया जाय। संस्कृत में पद्य साहित्य का बहुत मान और प्रचार रहा है। पहले सिद्धान्त के अनुसार यदि विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत के पूर्वकाल में पद्य का ही प्रचार था। गद्य का तो निर्माण हुआ ही नहीं अथवा पीछे से नाममात्र की रचना गद्य में हुई। पर इसे यदि भ्रम कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। दर्शनशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, निरुक्त आदि गद्य-ग्रन्थों की रचना रघुवंश आदि पद्य ग्रन्थों से प्राचीन है। अच्छा, थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि इन गद्य ग्रन्थों का निर्माण रघुवंश आदि पद्य की पुस्तकों के पीछे हुआ और गद्य

का समय सभ्यता का युग था। तो उस सभ्यता के युग के बाद संस्कृत का स्थान क्रमश प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा ने ले लिया। तो क्या सभ्यता के युग के लोग एक साथ ही असभ्य हो गए ? इस प्रकार तो 'असभ्य संसार धीरे धीरे सभ्य बन गया है और पद्य की अपेक्षा गद्य का प्रचार हो गया है' इस सिद्धान्त में कुछ चतुराई नहीं रह जाती।

अभिप्राय यह कि पद्य और गद्य के क्रमिक प्रचार को किसी सिद्धान्त के अनुसार बाँध देना उचित नहीं। कभी गद्य का प्रचार अधिक हो जाता है और कभी पद्य की प्रधानता हो जाती है। पद्य म भी सभ्यता का जमाना होता है और गद्य में भी सभ्यता का युग होता है। जब पहले समय मे पद्य में शरीर शास्त्र का निर्माण हुआ था, यद्यपि संस्कृत के मुख्य शारीरिक शास्त्र गद्य में ही हैं, तो वह युग असभ्यता का था और इस युग में गद्य में शरीर-शास्त्र की रचना हुई है तो यह युग सभ्यता का है, यह कैसे कहा जा सकता है ? उस युग में पद्य को महत्त्व दिया जाता था और इस युग में गद्य को अच्छा समझा जाता है। इसके अतिरिक्त न्याय का वात्स्यायन भाष्य चन्द्रगुप्त मौर्य के समय की उत्कृष्ट गद्य रचना है। माघ किरात आदि पद्य काव्यों की सृष्टि उससे ६०० वर्ष बाद होती है। इसलिये पद्य और गद्य मे एक भीत खड़ी कर देनी अच्छी नहीं। आज गद्य का युग है, नवीन-युग की वैज्ञानिक सृष्टि पद्य की अपेक्षा नहीं रखती। इन दिनों देश और जातियां समर-सागर को पार कर रही हैं, मानसिक भावनाओं के उतार-चढाव की किसी को कुछ चिन्ता नहीं। जब युद्ध आदि से कुछ शान्ति मिलेगी, वैज्ञानिक आविष्कारों से कुछ तृप्ति मिलेगी मनुष्य

स्वभावत हृदय की ओर प्रवृत्त होगा और तब पद्य की आवश्यकता होगी। उस समय गद्य की अपेक्षा पद्य सर्वप्रिय हो जायगा।

मानव जीवन के लिए गद्य और पद्य दोनों की आवश्यकता है। वैज्ञानिक-शुष्क विषयों के प्रतिपादन के लिये गद्य का आश्रय लेना पडता है। यदि इन विषयों को पद्य में रखा जाय तो ये दुर्बोध हो जाय। मीठी मीठी भावनाओं का रस लेने के लिये पद्य की उपादेयता है। गद्य बुद्धि का विषय है और पद्य मन का।

वैसे तो गद्य और पद्य दोनों में काव्य रचना हो सकती है और आजकल गद्य का प्रचार भी है, परन्तु जितना अच्छा काव्य पद्यमय हो सकता है उतना अच्छा गद्यमय नहीं। ससार के किसी भी साहित्य के किसी ऐसे उत्कृष्ट काव्य का नाम नहीं लिया जा सकता जो गद्य मे हो। हृदय पर गद्य का जितना प्रभाव पडता है उससे कहीं अधिक पद्य का असर होता है। उदाहरण के लिये क्रमश निम्नलिखित गद्य और पद्य को लीजिये—

"छोटी सी कोमल शाखा पर तुम्हारा अर्ध विकसित स्वरूप कितना सुन्दर और प्यारा लगता था ! ससार को आशा हुई थी कि फूल खिलकर चिरकाल तक उद्यान की शाभा बढाएगा। परन्तु तुम्हारे स्वच्छ हृदय मे क्या उत्सर्ग भरा था यह कोई न जानता था। तुम अर्ध-विकसित अवस्था में ही अपने गुलाबी अधरों पर मन्द मुस्कान लिये हुए जीवन शाखा से टूट कर गिर पडे"।

   

"भरा अरमानों से था मन,
न हँसने पाया किन्तु सुमन !
हास से प्रथम विनाश हुआ।"

गद्य में पद्य की अपेक्षा प्रभावशाली काव्य नहीं हो सकता, इतना होने पर भी प्रत्येक पद्य काव्य नहीं कहा जा सकता। जैसे गद्य काव्य रहित हो सकता है वैसे ही पद्य भी कवित्वशून्य हो सकता है—ऐसा पद्य केवल नियमित वर्णों या मात्राओं की रचना होती है। जैसे—

'जगे एक दिन, घर वाली ने कहा—नहीं है कुछ घर में,
बोले—बड़ी विपत है, पैसा रहा नहीं है अब कर में।
बोली वह—उधार ले आना, क्या भूखे जाओगे तुम?
कैसे काम करोगे, कैसे चल के घर आओगे तुम॥"

उक्त पद्य मानवहृदय पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालता। इसे काव्य नहीं कहा जा सकता है।

पद्य में छन्द शास्त्र के नियमों का पालन करना चाहिये या नहीं, यह भी विवादास्पद विषय है। छन्द शास्त्र के नियमों में जकड़ कर कविता करने की अपेक्षा स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने मनोभाव प्रकट करने की भावना इन दिनों प्रबल है। लोग पद्य को स्वेच्छा से प्रकट करने के पक्षपाती हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ जी का मन्तव्य है कि कविता में भावों की मुख्यता होनी चाहिये। नियमों के बन्धन भावों के प्रवाह को रोक देते हैं। प्राचीनकाल में छन्द आदि की पूरी पूरी गिनती के साथ प्रत्येक विषय के पूर्ण नियम बना दिये गए हैं। इसका परिणाम यह होता है कि लेखक के भावों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।

दूसरे विचारों के लोग छन्द शास्त्र के नियमों का पूर्ण पालन करने के पक्ष में हैं। इनके मत में यदि छन्दों के नियमों का त्याग कर दिया जाय तो गद्य और पद्य में कोई भेद नहीं रहता। ये

उन्होंने कहा भी है—

(१) 'निर्गुण राम निर्गुण राम जपहु रे भाई।'

(२) "दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना,
रामनाम का मरम है आना ॥"

(३) "जाहि राम को कर्त्ता कहिये तिनहुँ को न काल न राखा।"

(४) "हृदया बसे तेहि राम न जाना।
पूरब दिसा हंस गति होई।
है समीप संधि बूझै कोई॥
एरे मूरख नादाना तैने हरदम रामहिं न जाना ॥"

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रकट है कि कबीर के 'राम' में कोई विशेषता है। उनका 'राम' हृदय में बसने वाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह लोक विशेष निवासी नहीं है। कबीर की यह भावना हिंदुओं की ब्रह्मभावना से मिलती है, परन्तु एक स्थान पर कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची है। निर्गुण भावना में भी उन्हें स्थूलभावना का आभास होता है और इसीलिए राम को निर्गुण और सगुण दोनों से ऊपर मानकर वे कहते हैं—

अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा॥

इससे प्रतीत होता है कि कबीर का 'नूर' रहस्यवादियों के 'अनन्त प्रकाश' का दूसरा नाम है। कबीर भी स्वयं रहस्यवादी था। इसका विचार हम आगे करेंगे, यहाँ पर यह ध्यान में

रखना आवश्यक है कि इन पंक्तियों में कबीर के ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

कबीर मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उनके विचार में निराकार परब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, अतः मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना मूर्खता है। ऐसा पूजा करने वाले उनकी दृष्टि में ढोंगी हैं, बने हुए हैं और ८४ लाख योनियों में भटकते हुए नरक की सेवा करनेवाले हैं। इसीलिए बड़े व्यंगपूर्ण शब्दों में वे कहते हैं—

'पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजु पहार'

कबीर का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र भक्ति है—

"कहै कबीर मसा नाहा भगति मुगति गति पाई रे।"

मनसा, वाचा, कर्मणा भक्ति रखना ही उस तक पहुँचने का सुगम मार्ग है। वेदों और उपनिषदों के पढने से ही कोई पंडित नहीं हो जाता। वास्तव में पंडित वही है जिसने प्रेम के ढाई अक्षर का पाठ पढा हो। ज्ञानी अभिमान में रँगा रहने के कारण माया के चक्कर में भटकता फिरता है, परन्तु भक्त निरभिमान होकर शीघ्र परमात्मा तक पहुँच जाता है। कबीर का भक्ति-मार्ग सगुणमार्ग से भिन्न है। 'सगुण मार्ग' राम अथवा कृष्ण की उपासना का आदेश देता है और कबीर का भक्ति-मार्ग व्यक्तिगत साधना द्वारा ही इष्ट तक पहुँचने का उपदेश करता है। तुलसी और सूर की तरह कबीर अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल पर लोकादर्श की मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले नहीं थे। वे सदाचार और ब्रह्मज्ञान के

उन्होंने कहा भी है—

(१) 'निर्गुण राम निर्गुण राम जपहु रे भाई।'' ,

(२) 'दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना,
रामनाम का मरम है आना ॥''

(३) "जाहि राम को कर्त्ता कहिये तिनहुँ को न काल न राखा।''

(४) 'हृदया बसे तेहि राम न जाना।
पूरब एसा हस गति होई।
है समीप सँधि बूझै कोई॥
एरे मूरख नादाना तैने हरदम रामहि न जाना ॥'

ऊपर दिये गये उद्धरणों से प्रकट है कि कबीर के 'राम' में कोई विशेषता है। उनका 'राम' हृदय में बसने वाला और मृत्यु के पाश से परे है। वह लोक विशेष निवासी नहीं है। कबीर की यह भावना हिंदुओं की ब्रह्मभावना से मिलती है, परन्तु एक स्थान पर कबीर की भावना इससे भी अधिक ऊँची है। निर्गुण भावना में भी उन्हें स्थूलभावना का आभास होता है और इसीलिए राम को निर्गुण और सगुण दोनों से ऊपर मानकर वे कहते हैं—

अला एकै नूर उपनाया ताकी कैसी निंदा।
ता नूर थैं सब जग कीया कौन भला कौन मंदा॥

इससे प्रतीत होता है कि कबीर का 'नूर' रहस्यवादियों के 'अनन्त प्रकाश' का दूसरा नाम है। कबीर भी स्वयं रहस्यवादी था। इसका विचार हम आगे करेंगे, यहाँ पर यह ध्यान में

रखना आवश्यक है कि इन पक्तियों में कबीर के ऊपर मुसलमानी मत का प्रभाव स्पष्टतया प्रकट होता है।

कबीर मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। उनके विचार में निराकार परमब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, अतः मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करना मूर्खता है। ऐसी पूजा करने वाले उनकी दृष्टि में ढोंगी हैं, बने हुए हैं और ८४ लाख योनियों में भटकते हुए नरक की सेवा करनेवाले हैं। इसीलिए बड़े व्यंगपूर्ण शब्दों में वे कहते हैं—

'पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजु पहार"

कबीर का विश्वास है कि ईश्वर की प्राप्ति का साधन एक मात्र भक्ति है—

"कहै कबीर सखा नाहा भगति मुगति गति पाई रे।"

मनसा, वाचा, कर्मणा भक्ति रखना ही उस तक पहुँचने का सुगम मार्ग है। वेद और उपनिषदों के पढ़ने से ही कोई पंडित नहीं हो जाता। वास्तव में पंडित वही है जिसने प्रेम के ढाई अक्षर का पाठ पढ़ा हो। ज्ञानी अभिमान में रँगा रहने के कारण माया के चक्कर में भटकता फिरता है, परन्तु भक्त निरभिमान होकर शीघ्र परमात्मा तक पहुँच जाता है। कबीर का भक्ति-मार्ग सगुणमार्ग से भिन्न है। 'सगुण मार्ग' राम अथवा कृष्ण की उपासना का आदेश देता है और कबीर का भक्ति-मार्ग व्यक्तिगत साधना द्वारा ही इष्ट तक पहुँचने का उपदेश करता है। तुलसी और सूर की तरह कबीर अपनी भावुकता और प्रतिभा के बल पर लोकादर्श की मनोहर मूर्ति [illegible] ले नहा थे। वे सदाचार और ब्रह्मज्ञान के

रूप सूखे उपदेशों द्वारा भक्ति मार्ग की व्यवस्था करना चाहते थे। इसी कारण कबीर में वह अनेकरूपता एवं मधुरता नहीं है जो जायसी, सूर और तुलसी में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। जिस प्रकार किसान गर्मियों में वर्षा का नहीं, वरन् ताप का भूखा होता है, उसी तरह कबीर 'परम आनन्द' प्राप्त करने के लिए कष्ट-साधना के भूखे थे। सूर और तुलसी की तरह उनका लक्ष्य एवं शास्त्र मानव-हृदय नहीं है। उनमें वह भावुकता और सहृदयता नहीं है जो परोक्ष सत्ता की ओर संकेत करनेवाले रमणीय दृश्यों का चित्र अंकित कर सके, परन्तु कबीर में भगवान की भावना का 'माधुर्य भाव' अवश्य विद्यमान है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है—

'हरि मोर पीउ मैं राम की बहुरिया।'

'राम की बहुरिया' कभी तो प्रिय से मिलने की उत्कंठा और मार्ग की कठिनता प्रकट करती है और कभी विरहवेदना का अनुभव करती है।

कबीर की शिक्षा है आत्म ज्ञान प्राप्त करना, जो आत्मा के आनंद के लिए आवश्यक है। जिस प्रकार आत्मा अनादि है, उसी प्रकार माया भी अनादि है। यही माया सत्त्वगुण की अप्रधानता के कारण अविद्या रूप को ग्रहण कर लेती है। इसी कारण जीवात्मा चौरासी लाख योनियों में भ्रमण किया करती है। अज्ञान वश जीवात्मा अपने (चेतन के) धर्म आनंद आदि को जड़ (विषयों) का धर्म मान लेता है, अर्थात् यह सुख मुझे विषयों से मिला है, ऐसा जान लेता है। इसीलिए आनंदस्वरूप होते हुए भी वह अपार दुःख सागर में डूबा रहता है। उसे इस बंधन से

मुक्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है सोपाधिक और निरुपाधिक। शुद्ध चेतन निरुपाधिक है, इसलिए अपने स्वरूप को पहचानने के लिए निरुपाधिक ज्ञान आवश्यक है। आत्म साक्षात्कार के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। "ऋते ज्ञानान्नमुक्ति ।"

कबीर कहते हैं कि यह नाम-रूपात्मक दृश्य जो चर्म-चक्षुओं को दिखाई देता है, जल का घडा है, जिसके बाहर भी ब्रह्म वारि है और भीतर भी। बाह्य-रूप का नाश होने पर जिस प्रकार बाहर और अंदर का जल मिल कर एक हो जाता है उसी प्रकार माया का पर्दा बीच से उठ जाने पर, आभ्यतर का ब्रह्म बाह्यस्थ ब्रह्म में समा जाता है—

जल में कुंभ, कुंभ में जल है बाहरि भीतर पानी।
फूटा कुंभ, जल जलहि समाना यह तत तथौ गियानी॥

संसार की अनित्यता पर भी कबीर ने बहुत जोर दिया है। उनका आदेश है कि मनुष्य पानी के बुदबुदे की तरह क्षणिक है। जिस प्रकार प्रभात होते ही तारे विलुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार काल आने पर यह जीवन-लीला भी आँखों के देखते-देखते समाप्त हो जाती है। कबीर कहते हैं—

ऐसा यह संसार है जस सेमर का फूल।
दिन दस के व्योहार में झूँठे रंग न भूल॥
सेंवर सुवना सेइया दुई ढेंढी की आस।
ढेंढी फूटि चटाक दे सुवना चला उदास॥

...में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी ही बात सोचता है,

व्यक्तिगत बुद्धि एवं प्रतिभा का परिणाम है।

कबीर कर्मकाण्ड को आडम्बर समझते थे। पक्के हिंदू मुसलमान की तरह माला जपने में कबीर को तनिक भी विश्वास न था। ऐसे मनुष्यों को वे शिक्षा देते हैं—
"ऐ मनुष्यो, हाथ की माला को छोड़कर मन की माला फेरो।"

कबीर केवल सत्य के उपासक थे। उन्होंने किसी नामधारी बंधन में अपने को नहीं बाँधा। मुसलमानों के रोजा, नमाज, ताजियादारी और हिंदुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थ, व्रत आदि सभी की उन्होंने भरपेट निंदा की है। हिंदुओं की जाति-पाँति, छुआछूत, खान पान के व्यवहारों और मुसलमानों के चाचा की लड़की ब्याहने, मुसलमानी आदि कराने का उन्होंने घोर विरोध किया है। पितरों का जल से तर्पण करना हिन्दुओं में एक साधारण बात है, परन्तु कबीर का इस पर भी विश्वास न था। एक दिन जब वे नदी में स्नान कर रहे थे, उन्होंने कुछ हिन्दुओं को तर्पण करते देखा। उन्हें देखकर उन्होंने भी पश्चिम की ओर जल डालना आरम्भ कर दिया। उन हिन्दुओं में से एक ने यह देखकर पूछा—ऐ जुलाहे! यह तू क्या कर रहा है?

कबीर ने उत्तर दिया—मैं एक खेत को सींच रहा हूँ, जो यहाँ से दूर है।

इस पर सब लोग हँसने लगे और कबीर को मूर्ख बताने लगे। कबीर ने कहा—तुम मुझसे बढ़कर मूर्ख हो; क्योंकि तुम तो वैकुण्ठवासी पूर्वजों को जल पहुँचाना चाहते हो।"*

* का० ना० प्र० प० भाग ५ अंक ३ पृष्ठ २८८

कबीर कहते हैं—दाढ़ी-मूँछ मुड़ाने से क्या होता है? यदि मुड़ाना है तो मन को मुड़ाओ, अपनी वासनाओं के ऊपर राज्य करो। उसी के अन्दर शैतान अपना प्रभुत्व जमाये बैठा है।

माला तिलक लगाइकै, भक्ति न आई हाथ।
दाढ़ी मूँछ मुड़ाइकै, चले दुनी के साथ॥

कबीर उन ज्ञानियों में से नहीं थे, जो हाथ-पाँव समेटकर पेट भरने के लिए समाज के ऊपर भार बनकर रहते हैं। वे परिश्रम का रहस्य जानते थे और अपनी जीविका के लिए अपने ही हाथ का आसरा रखते थे। थोड़े में ही संतोष करने का उन्होंने उपदेश दिया है। धन धरती जोड़ना उनकी वृत्ति के विरुद्ध था। उन्होंने कहा भी है—

काहे कूँ भीत बनाऊ टाटी, का जाणू कहँ परिहै माटी।
काहे को मंदिर महल चिनाऊ, मूवाँ पीछैं घड़ी एक रहन न पाऊ॥
काहे को छाऊ ऊँच उँचेरा, साढ़े तीन हाथ घर मेरा।
कहै कबीर नरन न कीजै, जेता तन तैती भुईं लीजै॥

कबीर ने कथनी और करनी का भी खूब विवेचन किया है। वे कहते हैं—संसार में कहनेवाले तो बहुत मिलते हैं, परन्तु उसको करनेवाला कोई विरला ही मिलता है। कहना खाँड के समान मीठा लगता है और करना विष के समान कड़वा, परन्तु कर्म करनेवालों को विष भी अमृत हो जाता है।

कबीर के विषय में दूसरा प्रश्न उठता है—हिन्दी साहित्य में कवि कबीर का स्थान कौन सा है? उत्तर में निवेदन है कि कबीर की कविता का सम्बन्ध रहस्यवाद से है। अतएव बिना यह समझे हुए कि रहस्यवाद क्या है, इसका निर्णय नहीं

कर सकते। हम यह मानते हैं कि कबीर के काव्य में रोचकता का ह्रास है उनकी भाषा अस्पष्ट है, उसमें दार्शनिक पदों का ही बाहुल्य है और वे पद भी अधिकतर पिंगलशास्त्र के नियमों के अनुसार नहीं हैं, परन्तु कबीर में महान् कवि के सब लक्षण विद्यमान हैं। उनमें प्रतिभा है, मौलिकता है, ओज है, गाम्भीर्य है। उनके काव्य में उनका हृदय प्रतिबिम्बित है अपनी निजी कल्पना का जीता-जागता चित्र है, अपना निजी संदेश है। उनके काव्य में कोमलकान्त पदावली का अभाव अवश्य है। यदि आध्यात्मिकता को भौतिकता से श्रेष्ठ ठहराया जाय, तो कबीर का स्थान हिन्दी साहित्य-कानन में वही है, जो सूर और तुलसी का है। और यदि रहस्यवादियों की दृष्टि से देखा जाय, तो यह निर्विवाद है कि, कबीर का स्थान जायसी से भी अधिक ऊँचा है।

अब हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि रहस्यवाद क्या है और कबीर का रहस्यवाद किस प्रकार का है।

इस संसार-चक्र का परिचालन एक अद्भुत अज्ञात शक्ति करती है, इसका अनुभव मनुष्य अनादि काल से करता चला आ रहा है। इस अज्ञात शक्ति का मनुष्य से क्या नाता है, इसी का ज्ञान रहस्यवाद का अंतिम लक्ष्य है। अनंत के सम्पर्क में आने तथा उस "सत्ता" को अपने इन नंगे छोटे छोटे हाथों से पकड़ लेने की अभिलाषा उत्पन्न होना रहस्यवाद की सीढ़ी पर पैर रखना है। रूपहीन चिन्तन द्वारा अपनी आत्मा की एकान्तता में एक दैवी शक्ति के आभास का अनुभव करना ही रहस्यवाद का अन्तिम लक्ष्य है। रहस्यवाद कोई मोल ली जाने वाली मोतियों की लड़ी नहीं है। यह वह पाषाण-क्षेत्र है, जहाँ थोड़ा सा खोदने पर ही भ्रमात्मक

पत्थर निकलने लगते हैं और जहाँ सच्चे हीरे पाने के लिए खोदनेवाले को बड़े परिश्रम एवं धैर्य की आवश्यकता होती है। जीवन के पूर्णाङ्ग सम्पर्क में आने पर ही हम उसके भाव तथा तात्पर्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जीवन के आदि सगीत का अनुभव कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। यह तभी सम्भव है जब हम अपने भावों और विचारों को समित्र कर 'वास्तविकता' के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेने वाले मनुष्यों के अनुभवों का सहारा लें। ये कवि हैं, सिद्ध हैं, भविष्यद्वादी हैं। य वे लोग हैं जो अपने दिव्य-चक्षुओं से उस 'अनन्त-प्रकाश' का दर्शन कर चुके हैं। ये विकारहीन विचारों के प्रभु हैं, और अपनी अद्भुत, आत्मिक एवं मानसिक शक्तियों के पूर्ण विकास के कारण उस अन्तर्ज्ञान के अधिपति हैं, जो भावात्मक वस्तुओं तक पहुँचने का एकमात्र साधन है।

रहस्यवाद का विकास कुछ इस प्रकार होता है—

मनुष्य किसी वस्तु की खोज में घूमता फिरता है, सहसा उसे एक तजहीन ज्योति का आभास मिलता है। उसे प्रतीत होता है कि ज्ञान और बुद्धि दोनों उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। बस, वह जीवन की वास्तविकताओं को भूल जाता है और मानसिक क्षेत्र की सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ उसे अपनी ओर खींच ले जाती हैं। साधारण भाषा में कहना होगा कि वह 'खो' जाता है। उसकी आत्मा उस 'अनन्त ज्योति' से इतनी प्रकाशित हो जाती है कि उसको अपने पूर्वजन्म की तनिक भी स्मृति नहीं रहती। जिस समय ज्ञानी इस दशा को पहुँच जाता है, उस समय वह पक्का रहस्यवादी हो जाता है। उस समय वृक्ष का डोलना उसे

वृद्धावस्था न कम्पन का स्मरण दिलाता है, उसपर बेठनेवाले पक्षी उसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप जान पडते हैं और उस वृक्ष को काटनेवाला बढ़ई काल के रूप में उसके सामने प्रस्तुत होता है। कबीर ने इसी रहस्य को देखकर एक स्थान पर कहा है—

वाढी आवत देखि करि तरवर डोलन लाग।
हम कटे की कुछ नहीं, पखेरू घर भाग॥

साय प्रात न जाने कितने लोग मेघ खडो को रक्त-वर्ण होते देखते हैं, पर वे किस अनुराग से लाल हैं इसे कोई रहस्यवादी ही बता सकता है। मालिया का फूल तोडकर एक स्थान पर रख देना कौन नहीं देखता! परन्तु कबीर जैसे रहस्यवादी ही उसमें ससार की अनित्यता का आभास पाकर कह सकते हैं—

माली आवत देखि के कलियाँ करें पुकारि।
खिली खिली सो चुन लई अब कालिह हमारी बारि॥

कबीर ब्रह्म के जिज्ञासु हैं। जिज्ञासा का सम्बन्ध आत्म-ज्ञान से है। "जब जिज्ञासु ज्ञानी की कोटि पर पहुँचकर कवि होना चाहता है, तो स्वभावतया उसका ध्यान रहस्यवाद की ओर झुक पडता है। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता-क्षेत्र में आकर भावुकता और कल्पना का आधार पकडकर इस रहस्य वाद का रूप पकड़ लेता है।" इसी समय उसकी दृष्टि में सृष्टि की प्रत्येक वस्तु दूसरी से एक अखंड सम्बन्ध से जकड़ी हुई दिखाई पडती है। ऐसे समय कवि की भी सहृदयता अनन्य हृदयता का रूप धारण कर लेती है और झरनों में, निर्जन वन में, मर्मर करते हुए कानन में, पुष्पों के पराग की गंध में, मुग्ध पवन के मृदुल झोंको में, भक्त को केवल अपने ही प्रियतम की

मधुर वाणी सुनाई देती है। वह खिले हुए फूलों मे, रमणी के सस्मित आनन मे, सुन्दर मेघ-माला मे, निखरे हुए चन्द्र बिम्ब से, अपने प्रियतम के सौंदर्य्य का, गम्भीर मेघ-गर्जन मे, बिजली की कड़क में, वज्रपात मे, भूकम्प मे उसकी रौद्र-मूर्ति का, ससार के असामान्य वीरो में शक्ति का और परोपकारियो, त्यागियों एव माता के स्नेह-पूर्ण चुम्बन मे उसकी शीलता, वत्सलता आदि का साक्षात्कार करता है।

रहस्यवादी विशेषतया चार प्रकार के होते हैं—

(१) भक्ति-उपासक—इनके विचार में सन्यासी होकर परमात्मा का भजन करना ही सफलता की कुञ्जी है। आत्मिक एव शारीरिक बल, निर्दिष्टता, वीरतासूचक साहस, तीक्ष्ण बुद्धि, तीक्ष्ण व्यग्य यही इनके सौम्य के लक्षण हैं।

(२) दार्शनिक—ये सन्यासी होकर ससार परित्याग करने के नहीं, वरन् घर पर ही विरक्त जीवन व्यतीत करने के पक्षपाती हैं।

(३) प्रकृति उपासक—ये फूलो और पत्तों ही में परमात्मा का साम्राज्य देखते हैं। इनका मत है कि मनुष्यात्मा पहले प्रकृति ही मे ईश्वर का अन्वेषण करती है। उसका सबसे पहला ईश्वर-ज्ञान प्रकृति ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसकी सब से पहली पूजा प्रकृति पूजा ही है। वह प्रत्येक पदार्थ का पूजन करती है, जो उसमें आश्चर्य और कृतज्ञता का सचार करे। यह प्रकृति का पूजन न तो विश्वदेववाद ही है और न अनेकदेववाद ही। यह तो केवल अपरिमित शक्ति का पूजन है, अर्थात् साधारण ईश्वर-वाद तथा आस्तिकता है। हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक

ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

हम कबीर को इस तीसरी श्रेणी में रखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य हृदय में उपासना का भाव जागृत कर देता है, वासनाएँ शांत हो जाती हैं। कबीर इस भक्ति-भाव से प्रेरित अवश्य हुए थे, परन्तु चित्त की शान्ति ही वास्तविक सौंदर्य है, कबीर इससे अनभिज्ञ नहीं थे। यह शांति उन्हें फलों और फूलों में प्राप्त न हो सकी। हाँ, इन सब ने भक्ति भावना की ओर कबीर का ध्यान आकर्षित अवश्य कर दिया।

(२) प्रेमोपासक—इनके अनुसार 'अज्ञात' से मिलाने का उपाय एक मात्र प्रेम है। इनके मतानुसार प्रेम केवल उच्छ्वास मात्र ही नहीं है, वरन् वह एक निग्रहसाधन भी है। इस मत के अनुयायी ब्रह्म की भावना अनन्त सौंदर्य और अनन्त गुण-सम्पन्न प्रियतम के रूप में करते हैं। यही सूफी मत है। सूफी लोग ब्रह्मानन्द का वर्णन लौकिक प्रेमानन्द के रूप में करते हैं और इस प्रसंग में शराब, मद आदि को भी ले आते हैं। कबीर के ऊपर भी इस रंग का काफी असर है। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है। आधुनिक प्रेम मस्त प्राणियों की इच्छा कायर की समर-लालसा है, जो हड्डी की ललकार सुनते ही विलुप्त हो जाती है, परन्तु कबीर प्रेम मस्त प्राणियों में से हैं। कबीर के प्रेम में ममत्व नहीं, वरन् आत्म समर्पण है। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रियतम से साक्षात्कार होने पर कबीर कहते हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं ही हो गई लाल॥

प्रेम की इसी शुद्ध एव उच्चतम अवस्था में प्रियतम के प्रेमानुराग में स्मृतिमय होकर प्रेमी आह्लादित हो गाने लगता है—

हमन हैं इश्क मस्ताना हमन को होसियारी क्या।
रहें आजाद या जग में, हमन दुनियाँ से यारी क्या॥
जो बिछुड़े हैं पियारे से भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इंतजारी क्या॥
न पल बिछुड़े पिया हममे, न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं मे नेह लागी है हमन को बेकरारी क्या॥
कबीरा इश्क का माता, दुई को दूरकर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

हे परमात्मन्! क्या इस मनोराज्य मे हमें भी स्थान मिलेगा? क्या यह हलका हलका नशा हम पर चढेगा? अनिर्वचनीय आनन्द की यह भीनी झलक क्या कभी हमें भी देखने के लिए मिलेगी? आह!

सो दिन कैसा होयगा गुरू गहिंगे बाँह।
अपनाकर बैठावहिं चरन कमल की छाँह॥

—सोमनाथ गुप्त

(२९)

विज्ञान और भक्ति

आजकल शिक्षित-समाज में पाश्चात्य विज्ञान की बड़ी प्रतिष्ठा है। यह प्रतिष्ठा दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। यह किसी कदर उचित भी है। क्योंकि मनुष्य आधुनिक विज्ञान को अपने सुख का साधन बनाता जा रहा है। भूमण्डल का बढ़ता हुआ अन्तर्वाणिज्य-व्यवहार, चिकित्सा शास्त्र के नए नए परमोपयोगी आविष्कार, वायरलेस टेलीग्राफी और विमान इत्यादि विज्ञान की उपयोगिता भली भाँति सिद्ध कर रहे हैं। जहां एक ओर सुख और आसानियां बढ़ती जा रही हैं, शीघ्रगामी यानों की रचना करके जहां मनुष्य दूरी को छोटा और समय को लम्बा करने में लगा है, जहां उसने प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण से बुद्धि के इतिहास को चमत्कारों से भर दिया है, वहां विज्ञान से अद्भुत संहारकारक शक्तियां भी प्रकट हो रही हैं, जिनसे हुई और होने वाली हानियों का अन्दाजा भी नहीं किया जा सकता। जिन्होंने गत योरपीय महायुद्ध को देखा या उसका इतिहास पढ़ा है, वे आधुनिक विज्ञान के हानिकारी प्रभाव से अच्छी तरह परिचित हैं। महाभारत के बाद भूमण्डल पर यह सब से बड़ा संग्राम हुआ है। इस लड़ाई के कारण पैदा हुई बीमारियों से भी बहुत से लोग मर गए। पृथ्वी पर दुःख और दारिद्र्य की कल्पनातीत वृद्धि हुई। इसलिये थोड़े में यह कहना कदाचित् अनुचित न होगा कि मनुष्य विज्ञान से सुख और दुःख दोनों उठा रहा है।

वैज्ञानिक विचार और सिद्धियां सन्तोष नहीं देतीं। सांसारिक प्रीति भी कोई सच्चा मजा नहीं देती। किसी सर्वोत्तम और अनूठे जीवन की यहां निन्दा मात्र ही नहीं, वरन उसकी क्रूर विडम्बना प्रतीत होती है। विज्ञान से हम वह पदार्थ प्राप्त करना चाहते हैं, जो हमें सब तरह से भरपूर कर दे। किन्तु यह केवल तन्मात्र के विज्ञान से असाध्य है। केवल भक्ति ही संसार में उस कमी को पूरा करती है। यह महामत अर्थात् सिद्धान्त भारत में बहुत पहले से प्रचलित है। आधुनिक विज्ञान भी अन्त में इसी मत का समर्थन करता है। इस विषय पर हम कुछ विस्तार से विचार करना चाहते हैं।

कितने ही लोगों का यह कथन है कि भारतवर्ष में कभी विज्ञान की चर्चा थी ही नहीं। यदि थी भी तो इतनी सूक्ष्म और भरपूर कदापि न थी जितनी आजकल पाश्चात्य देशों में है। कुछ लोग इस भ्रम में भी हैं कि ज्ञान और विज्ञान से भक्ति नीची है और अपढ़ मनुष्यों को लाभदायक है, तथा ज्ञानी और विज्ञानी को भक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। विचार करने पर ये कथन असत्य सिद्ध होते हैं। सच पूछिये तो पाश्चात्य विज्ञान का स्वरूप अभी स्थूल और अस्थिर है और सत्य से कोसों दूर है। आजकल ऐसे लेख और पुस्तकें प्रकाशित होने लगी हैं जिनके पढ़ने से मालूम होता है कि वैज्ञानिक विचार दिन दिन बदलते जा रहे हैं। उदाहरण के लिये पदार्थ विज्ञान की कल्पनाओं को लीजिए। जो वस्तुएं पाश्चात्य देशों में कल अक्षोभ्य मानी जाती थीं, वे ही आज वियोज्य सिद्ध हो रही हैं। रेडियम और एलेक्ट्रान का पता चलने से वैज्ञानिक प्रमेयों में बड़े बड़े परिवर्तन

हो गए हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड अब दो पृथक् पदार्थ नहीं माने जाते। भारत के अशिक्षित और ग्रामीण जन भी परम्परा से इस सत्य के साक्षी हैं। वे साधारण बोलचाल में कह उठते हैं— 'पिण्डे सो ब्रह्माण्डे'।

संसार में सभी पदार्थों का आधार एकमात्र आकर्षण शक्ति अथवा मन सिद्ध हो रहा है। क्या आश्चर्य, जो एक दिन ऐसा भी आवे जब समस्त वैज्ञानिक अन्वेषण और अनुभवों की पराकाष्ठा भक्ति ही रह जाय, मनुष्य मात्र का लक्ष्य एक भक्ति ही माना जाय। केवल वैज्ञानिक चर्चा पंचभौतिक आकर्षण, विनिमय उनके अङ्गों, प्रत्यङ्गों और लक्षणों की आश्चर्यमयी वार्ता आधुनिक विज्ञान की अनेक पुस्तकों में पढ़ी जा सकती है। किन्तु यह वार्ता असलियत को नहीं जाहिर करती। यह सृष्टि की उत्पत्ति के आदि कारण और अन्तिम परिणाम पर जरा भी रोशनी नहीं डालती। पाश्चात्य विज्ञान से अभी तक हमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं प्राप्त हुई जो हमें परिपूर्ण और सन्तुष्ट कर दे, बल्कि उल्टे वह हमें नित्यशः दुराचारी बनाता जा रहा है। आधुनिक विज्ञान की बदौलत हम लाखों मील दूर की चीजें भी अत्यन्त निकट देख सकते हैं, हजारों मील दूर बैठकर बातें कर और सुन सकते हैं, जड़ पदार्थों से मनुष्य की वाणी की प्रतिध्वनि सुन सकते हैं आकाश में उड़ सकते हैं, समुद्र का छाना और अन्तस्तल पर गर्व के साथ विचरण कर सकते हैं, सैकड़ों मील तक गोले फेंक सकते हैं, मिनटों और घन्टों में लाखों प्राणियों की हत्या और गगनचुम्बी अट्टालिकाओं में पूर्ण

को निध्वंस कर सकते हैं, पल भर में दृश्य जगत् का चित्र खींच कर नेत्र को तृप्त कर सकते हैं, विद्युत् से झाड़ू दिला सकते हैं, ऐक्सरेज़ से शरीर के भीतर का दृश्य देख सकते हैं, खेत जोतना, बोना, काटना, माड़ना, ओसाना, बीजों में इच्छानुकूल रंग, स्वाद उत्पन्न करना, फलों को बड़ा तथा अधिक कर लेना आदि बहुत सी बातें विज्ञान ने हमारे लिये सुलभ कर दी हैं। हम सुन्दर, रंग बिरंगे, चमकीले वस्त्रों से अपने शरीर को तितली की तरह सजा सकते हैं, यन्त्रों से भोजन बना सकते हैं। इन सब का सारांश यह है कि हमने विद्युत्, अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी की स्थूल शक्ति पर विजय प्राप्त कर ली है, हम इनसे नौकर का काम ले सकते हैं, और इनकी सहायता से हमें भोग-विलास की प्रचुर सामग्री आसानी से मिलने लगी है। पर राजसी ठाठ बाट के साथ-साथ अत्यन्त विकराल राजरोग भी बढ़ते जा रहे हैं। पहले लोग पृथिवी को सराय और मनुष्य को उसमें ठहरने वाला मुसाफिर कहा करते थे। जैसे—

कङ्कड़ चुन-चुन महल बनाया लोग कहैं घर मेरा है।
ना घर तेरा ना घर मेरा चिड़िया रैन बसेरा है॥

❀ ❀ ❀

आये हैं सो जायँगे, राजा रङ्क फकीर।
एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बाँधे जंजीर॥

❀ ❀ ❀

यह ससार झाड़ और झाँखर आग लगे बरि जाना है।
कहत 'कबीर' सुनो भाई साधो सतगुरु नाम ठिकाना है॥

❀ ❀ ❀

वटाऊ र चलना आजि कि कालि ।
समुझि न देखे कहा सुखि सोवे रे मन राम सँभालि ॥
जैसे तरुवर विरम बसेरा पछी बैठे आइ ।
ऐसे यहु सब हाट पसारा आप आप को जाइ ॥

अब लोग पृथ्वी को अस्पताल और मनुष्य को उस मे कराह कराह कर मरने वाला रोगी कहने लगे हैं। यह उन पाश्चात्य महापुरुषों के श्रीमुखों से कहा गया है जिनको सासारिक ऐश्वर्य और भोग-विलास अब गर्हित प्रतीत हुए हैं।

सासारिक सिद्धिया सचमुच लाभदायक होने का एतबार नहीं दिलातीं। इसकी खास वजह यह है कि विज्ञान अभी अपनी उच्च और अन्तिम अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ। सासारिक सम्पत्ति को मनुष्य जीते जी फूँक तापता है,अन्त मे मृत्यु की अँधियारी देखकर हताश हो जाता है। सूरदास ने ससार से भयभीत हो पुकारा था—

अब के नाथ मोहि उधारि।
मग नहीं भव अम्बुनिधि में कृपासिन्धु मुरारि॥
नीर अति गम्भीर माया लोभ लहरि तरग।
लिये जात अगाध जल मे गहे ग्राह अनङ्ग॥

आधुनिक विज्ञान हमारे मन को इस प्रकार की ओर जाने ही नहीं देता। हम समझते हैं कि हम प्रकृति पर विजय प्राप्त करते जा रहे हैं, पर तथ्य यह है कि हम प्रकृति के जाल मे और बँधते जा रहे हैं। हम मनुष्य-जीवन के लक्ष्य से बहुत दूर चले जा रहे है। प्रकृति हमें नास्तिकता के उस घने अन्धकारमय वन में छोड देगी, जहा से निकलने का हमें मार्ग न मिलेगा और हम फिर चौरासी लाख के चक्र में जा पडेंगे।

—रायबहादुर कुमार कौशलेन्द्रप्रताप साहि

(३०)
प्रकृति-सौन्दर्य

विश्वम्भर की अपार अनुकम्पा से अखिल प्रकृति सौंदर्य ही सौंदय से परिपूरित है। रजनी का अवसान होने को है। उषा रानी आती है। मानो प्रिय सखी निशा रानी परदेश चली है उसे मिलने आ रही हो। 'यह क्या? आँसुओं की झड़ी? आ बहिन गले मिल लें, अहा बहिन उषा! निशा! क्या कहूँ? न जाने फिर कब मिलें!"

निशा चली गई। ऊषा का यौवन खिल उठा। अवश्याय-बिन्दु कुश, काश और मृदु दूर्वा पर पड़े हैं मानो हरी मखमल पर धवल मोती जड़े हैं। यह दृश्य देख प्रकृति प्रेमी के लोचनारविन्द भी तत्क्षण ही आनन्दाश्रुओं से सुशोभित होते हैं। अवश्याय से कुम्हलाइ दूब पुनः नवनता लाभ करके तन जाती है, मानो धरित्री देवी को उषा के अश्रुओं से रोमाञ्च हो आया हो। यह देख किस मनुज के रोमाञ्च नहीं होता?

उधर देखिए—चन्द्रराज जान लेकर भाग रहे हैं, अरे! रे! भागो, भागो, महाप्रतापी भास्कर देव का सेनापति अरुण आ पहुँचा। अरुण ही अरुण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। पेड़, पल्लव, शाखा, नदी-जल, पुलिन, तट, पशु पक्षी आदि अखिल पदार्थ अरुणिमामय हैं। भगवान् भास्कर का साम्राज्य स्थापित हुआ जान उसके पक्ष समर्थक हृदय-कमल विकसित हो रहे हैं। अहो! इधर कौन मन मारे, उदास और सुस्त बैठा है? ठीक है, चन्द्रराज के भक्त-हृदय कुमुद मुरझा गये हैं। ओह! प्रभात

काल की इतनी शोभा हृदय मे सम्भाली न जाती थी। उस पर खग-कुल के कलरव ने निखिल जगतीतल को मुखरित कर दिया। प्रभात की शोभा ने उसके रूप को, उसके सौंदर्य को, उसकी मधुरिमा को द्विगुणित कर दिया, मानों अति मधुर रसाल के रसीले रस में इक्षुरस घोल दिया हो। हृदय आप्लावित हो गया। अब भाँति भाँति के फूल पूर्णतया फूल गये हैं। इधर गुलाब है तो उधर मौलसिरी। कहीं केतकी है। कहीं जूही, चमेली, नरगिस। सब अपनी-अपनी छटा से विश्व भर को विमोहित करने म लगे हैं। अमलतास के फूलों के लच्छे कोस भर दूर से ही रूप और सुरभि से बलात् आकर्षित कर रहे हैं। मधुकर मधुर मधु से खिंचे पुष्पों की ओर उड़े जा रहे हैं।

ग्रीष्म ऋतु है। सरिता-तट सब को सुहाता है। मस्तानी चाल से झूमती हुई हथिनी की तरह नदी बही जा रही है। 'तटिनी! क्यों? कहा दौड़ी जारही हो। पर्वत ने कोई सन्देश दिया है जो वारिधि को सुनाने जा रही हो? ऐं! क्या कहा? अच्छा पितृगृह से पतिगेह जाती हो। सुनो तो! नहीं, इस समय क्यों ठहरोगी, ऐसे समय कौन ठहरता है? अच्छा जाओ। कल्याणी! अपने स्निग्ध शीतल सलिलामृत से दु ख दाव दग्ध जनों को पुनरुज्जीवित करती जाना। तुम्हीं अन्नपूर्णा हो। हमारे खेत हरे भरे करती जाना।" अहो! अकस्मात् ये शब्द नदी के सौंदर्य को अनुभव करने वाले मनुष्य के हृदय से निकल पडते हैं।

पर्वत पर तो मानों प्रकृति नटी पूर्ण शृंगार करके नृत्य कर रही है। इधर पर्वत शृंग सच्चे आत्माभिमानी के समान सिर उठाये खडे हैं, तो इधर झर झर झर-झर करता निर्झर दिग्दिगन्त

(३१)

हिन्दी साहित्य मे हास्य-रस

साहित्याचार्यों की बहुसंख्या रसात्मक वाक्य या वाक्य-समूह को काव्य अंगीकार करती है। रस के नौ भेदों मे हास्य रस का भी अपना स्थान है। यद्यपि साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों मे हास्य-रस प्राय शृंगार आदि का पोषक ही दृष्टिगोचर होता है, तथापि इसमे कोई सार नहीं कि प्राचीन कवियों और साहित्यानुरागियों के मानस केवल शृंगार, वीर, करुण आदि रसों मे ही लगते थे। पृथ्वीराज रासो आदि वीर काव्यों तक मे क्वचित् क्वचित् इसकी पुट पाई जाती है। अमीर खुसरो की मुकरियां और पहेलियों मे आने वाला हास्य भी अविस्मरणीय है। वीरगाथा काल को लांघते ही भक्ति काल की निर्गुण धारा के ज्ञानाश्रयी कवि कबीर साहब की कविताओं में भी हास्य प्रस्फुरित दृष्टिगोचर होता है। "अरे इन दुहुन राह नहीं पाई" आदि मे हिन्दु और मुसलमान दोनों के लिए मीठी चुटकी ली है। वल्लभ स्वामी द्वारा स्थापित अष्टछाप के कवियों के भक्ति ग्रन्थों मे हास्य-रस का विलास न भी हो तो भी स्मित तो ठौर ठौर पर है। महाकवि सूरदास जब अपने इष्ट, अपने प्रभु कृष्ण से प्रेम-भक्तिमय हास्य करने से नहीं चूकते तो अष्टछाप के आठों कवियों का दरबार लगने पर काव्यचर्चा में अवश्य ही कहकहे चलते होंगे। सूरदास अपने आराध्य देव को हास्यपूर्ण धमकी देते हैं—'अब हौं उघरि नचन चाहत हौं। तुम्हें बिरद

निन करिहौं'। कृष्ण के मुख से 'ग्वाल बाल सब बैर परे हे बरबस मुख लपटायो, मेया मैं नहीं माखन खायो" कहलाना भी हास्य रस से रिक्त नहीं है। सन्त कवि तुलसीदास का भक्त-हृदय भी हास्य का स्वाद लेता था। रामचरितमानस में परशुराम की गर्वभरी बहकी बहकी बातें सुन कर—

"कहेउ लषण मुनि सील तुम्हारा। को नहि जान विदित संसारा॥
मातुहिं पितुहिं उरिन भये नीके। गुरुरिन रहा सोच बड जीके॥
सो जनु हमरेहि माथे काढा। दिन चलि गयउ ब्याज बहु बाढा॥
अब आनिय व्यवहरिया बोली। तुरत देउँ मैं थैली खोली॥"

अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री कवि बीरबल भी बडे विनोदी थे। उनकी उक्तियों और फबतियों पर बडे बडे दरबारों में कहकहे चलते रहे, पर वास्तव में पुस्तक रूप में हिन्दी-साहित्य को उनसे वह हास्य नहीं मिला। फुटकर रूप से भले ही दो चार चीजे मिली हों। केशव, रहीम, बेनी और बिहारी आदि की रचनाओं में भी कहीं कहीं हास्यरस पाया जाता है—

"तुमहूँ कान्ह मनो भये आजु काल्हि के दानि॥" बिहारी

अठारहवीं शताब्दी में अलीमुहिब्ब खाँ (प्रीतम कवि) ने 'खटमल बाईसी' नामक पुस्तक लिखी। केवल हास्य के पृथक् ग्रन्थ के रूप में सम्भवत हिन्दी में यह पहली रचना है। एक उदाहरण—

"जगत के कारन करन, करन चारों वेदन के,
कमल में बसे वे सुजान ज्ञान धरिकै।
पोषन अवनि दुख सोषन तिलोकन के,
समुद में जाय सोए सेस सेज करिकै॥

मदन जरायो, जो सहारें दृष्टि ही में सृष्टि,
चसे हैं पहारि मोऊ भाजी हरररिकें।
निधि हरि हर और इनते न कोऊ, तेऊ,
खाट पै न मोवें खटमलन को डरिकें॥"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने प्राय साहित्य के प्रत्येक अंग को हाथ लगाया था, पर हास्य के तो वे अवतार थे। होली आदि के अवसर पर कोई न कोई हास्य का सामान जुटा कर ही उन्हें चैन पड़ता था। उन्होंने कई 'चने जोर गरम' और 'चूरन बड़ा मसालेदार' के लटके बनाये हुए थे। प्रतापनारायण मिश्र जी की लेखिनी तो मानो हँसी के फूल बिखेरा करती थी। उनके हास्य रस के दो तीन उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

"हाय बुढ़ापा तोरे मारे हम तो हैं नकन्याय गयन"
"दाढ़ी ही पर बहि बहि आवे कसों तमाखू जो फाकन"

मिश्र जी के गद्य और पद्य दोनों में हास्य और व्यङ्ग्य इतने गुदगुदाने वाले हैं कि पढ़ते ही बनता है। मिश्र जी के हास्यपूर्ण गद्य का एक नमूना देखिये—

'भला हमारी बातों में तुम्हारे मुह से हिहि तो निकली। इस तोबड़ा से लटके हुए मुह के टाका के समान दो तीन दांत तो निकले। देखो, आपने मट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया की ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हो तो देखो। इसी से कहते हैं भया मान जाव, राजा मान जाव, मुन्ना मान जाव।"

कविता कामिनी कान्त नाथूराम शङ्कर की 'वायसविजय' और 'गर्भरण्डारहस्य' पुस्तकों में हास्य पर्याप्त है। होली के भड़ुओं पर उन्होंने अपनी कविता में खूब फबतियां कसी हैं। पञ्चपुकार सुनिये—

"ठेके पर लेकर वेतरणी, दे कर दाढी मूछ।
वाटर-नाईसिकल के द्वारा बिना गाय की पूँछ॥
मरों को पार उतारूँगा। किसी से कभी न हारूँगा॥"

आप अपनी ग्रामीण भाषा मे भी हास्य की कविता लिख मारते थे। एक उदाहरण—

"हिल मिल पोंगा पञ्च, करें अत निचे जाने।
हम हिन्दू न असत्त, आरिया मत को माने॥
चो निसार कुल रीत, निगारें गल पुरानी।
ठाकुर पकरे बॉयँ, करें रन्डा ठकुरानी॥
भॉ मनमानी माया मिले, भॉ ग्यातर भरपूर हो।
छैको तु सत्त्र जात ने, बोल "नमसते" दूर हो॥"

यहा तक तो हुई पुरानी बात। अब नई झाँकी भी देखिये। आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे हास्य-रस के तीन प्रकार के लेखक हैं। पहले वे जो पात्रो के उलटे सीधे नाम, धमाचौकडी, मारपीट, धौलधप्पा आदि के वर्णन द्वारा अथवा अश्लीलता के पास पास पहुँचने वाले या यों कहिए कि अशिष्ट हास्य द्वारा जनता की वाहवाही लूटने और उनकी जेबों से धन निकलवाने की विद्या मे कुशल हैं। साधारण जनता ऐसे लेखकों को बहुत चाहती है, अत ऐसे लेखकों की पुस्तकों के शीघ्र शीघ्र सस्करण हुआ करते हैं। साहित्यिक हास्य के नाम पर सूखे और सकील भाव फेंकना और अपनी पुस्तकों को दीमक का ग्रास बनाना अनुचित है, पर समाज के आचरण और रुचि को निम्न करने वाले हास्य को साहित्य मे स्थान देना ठीक नहीं। रोगी को ज्वर है। उसकी रुचि आम का अचार खाने की है।

"मुर्दे चीरते चीरते आपका हृदय इतना कठोर बन जाता है कि मृत्यु आपके लिए साधारण सी बात हो जाती है। शव शय्या के पास आपका हृदय तनिक भी विचलित नहीं होता।"

हास्य ग्रन्थों का अनुवाद भी हिन्दी में होने लगा है - श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने कई प्रहसनों का अन्य भाषाओं से अनुवाद किया है। डा० लक्ष्मण स्वरूपजी द्वारा अनूदित मोलियर का 'बनिया चला नवाब की चाल' नामक प्रहसन उत्कृष्ट और शिष्ट हास्य का नमूना है। 'परशुराम' महोदय के 'भेड़ियाधसान' और 'लम्बकर्ण' का श्री धन्यकुमार जैन ने अनुवाद किया है। हास्य रस के ये दो अनूठे ग्रन्थ हैं। श्री श्री सिद्धेश्वरी लिमिटेड में सेठ गण्डेरीराम के तीन कौड़ी को ठेंगा दिखाकर 'कुछ भी नहा' कहने पर तथा एमी गत मिन्सार म ज्यूँ गाटर का ठाट" आदि कहने पर हँसी बरबस रोके नहीं रुकती।

पुस्तकों, पत्र पत्रिकाओं में चुटकलों का प्रचार भी हास्य-रस की पूर्ति कर रहा है। एक नमूना देखिये—

'सरकस वाला का एक शेर पिंजड़ा तोड़ कर भाग गया। वे उसे ढूढ ढूढ कर थक गए। दो दिन बाद एक देहाती शेर को कान से पकड़े हुए लाया और बोला — का साहब, ई बिलाइती कुत्ता आप लोगन के हैं।"

हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है। यह भारत की जनता के हृदय पर अधिकार पा रही है। इसमें सुरुचिपूर्ण हास्यरस का पूर्ण समावेश हो, यही कामना है।

—श्यामचन्द्र विशारद